प्रकाशक,
मनसुखलाल रवजीभाई महेता,
सँढहर्स्टरोड, गिरगाँव--बम्बई ।

प्रिंटर,
रामचंद्र येसू शेडगे,
निर्णयसागर प्रेस, २३, कोलभाट लैन,
कालबादेवी--बम्बई ।

"मेरे जीवन पर श्रीमद् राजचन्द्रभाईका ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता । उनके विषयमें मेरे गहरे विचार हैं। मैं कितने ही वर्षोंसे भारतमें धार्मिक पुरुषकी शोधमें हूँ; परन्तु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारतमें अब तक नहीं देखा जो श्रीमद् राजचंद्रभाईके साथ प्रतिस्पर्द्धामें खड़ा हो सके । उनमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति थी; ढोंग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे । उनमें एक ऐसी महती शक्ति थी कि जिसके द्वारा वे प्राप्त हुए प्रसंगका पूर्ण लाभ उठा सकते थे । उनके लेख अँगरेज तत्त्वज्ञानियोंकी अपेक्षा भी विचक्षण, भावनामय और आत्म-दर्शी हैं। यूरपके तत्त्व-ज्ञानियोंमें मैं टाल्स्टॉयको पहली श्रेणीका और रस्किनको दूसरी श्रेणीका विद्वान् समझता हूँ; पर श्रीमद् राजचंद्रभाईका अनुभव इन दोनोंसे भी बढ़ा-चढ़ा था। इन महापुरुषके जीवनके लेखोंको आप अवकाशके समय पढ़ेंगे तो आप पर उनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। वे प्रायः कहा करते थे कि मैं किसी वाड़ेका नहीं हूँ; और न किसी वाड़ेमें रहना ही चाहता हूँ। ये सब तो उपधर्म-मर्यादित-हैं और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या ही नहीं हो सकती। वे अपने जवाहरातके धंधेसे विरक्त होते कि तुरंत पुस्तक हाथमें लेते । यदि उनकी इच्छा होती तो उनमें ऐसी शक्ति थी कि वे एक अच्छे प्रतिभाशाली वैरिस्टर, जज या वाइसराय हो सकते । यह अतिशयोक्ति नहीं; किन्तु मेरे मन पर उनकी छाप है । इनकी विचक्षणता दूसरे पर अपनी छाप लगा देती थी।"

महात्मा गाँधी ।

(सभापतिकी हैसियतसे अहमदाबादकी
'राजचंद्र-जयंती'के समयके उद्गार ।)

"मेरे जीवन पर मुख्यतासे श्रीमद् राजचन्द्रकी छाप पड़ी है । महात्मा टाल्सटॉय और रस्किनकी अपेक्षा भी श्रीमद् राजचन्द्रने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला है ।"

महात्मा गाँधी ।

(वढ़वाण-जयंतीके समयके उद्गार ।)

भेंट।

ऑनरेबल श्रीयुक्त पं० मदनमोहन मालवीयजीके
कर-कमलोंमें सादर समर्पित।

माननीय,

महात्मा गाँधीजी और आपका गाढ़ स्नेह-सम्बन्ध है। आपका एक-दूसरेके प्रति बड़ा ही आदरभाव है। आप दोनों ही देशके उन उज्वल रत्नोंमें हैं कि जिनका, देशवासियोंका कल्याण करना ही एक महाव्रत है। तब जनताकी कल्याण-कामनासे मैं आपको एक ऐसे व्यक्तिका परिचय दूँ जिनकी महात्मा गाँधीजीके जीवन पर भी गहरी छाप पड़ी है; और महात्माजीका बड़ा ही आग्रह है कि मैं आपको उन व्यक्तिका परिचय दूँ। वे व्यक्ति हैं श्रीमद् राजचन्द्र। पुण्यसे मुझे उनके अनुज होनेका सौभाग्य प्राप्त है; अतएव उनकी एक पवित्र कृति उनके थोड़ेसे परिचयके साथ लेकर मैं इस आशासे आपकी सेवामें उपस्थित हूँ कि आप और महात्मा गाँधी-जीके द्वारा श्रीमद् राजचंद्रके जीवनके अनुभवका जगत्को लाभ हो—उसके द्वारा जनताका कल्याण हो।

विनीत,

मनसुखलाल रवजीभाई महेता।

विज्ञप्ति ।

श्रीमद् राजचन्द्रके सम्बन्धकी चर्चा करते हुए एक-दो बार महात्मा गाँधीजीने उनकी रचनाओंका भिन्न भिन्न भाषाओंमें तथा खास कर भारतकी भावी राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अनुवाद करा कर प्रकाशित करनेकी मुझे सूचना की थी । आपकी इस उपयुक्त सूचनाका मुझे बड़ा ही खयाल रहा करता था; परन्तु अब तक वैसा योग न मिलनेके कारण मैं उसके पालन करनेमें असमर्थ रहा । परमात्माकी कृपासे मैं अब ऐसा योग लाभ कर सका हूँ; और जिसके फल-स्वरूप ही यह श्रीमद् राजचंद्रकी 'आत्मसिद्धि' नामकी छोटीसी कृति— जिसमें कि संक्षिप्तमें सर्व दर्शनोंका सार भरा हुआ है—लेकर हिन्दी-पाठकोंकी सेवामें उपस्थित हूँ । यह कृति मूल गुजराती भाषामें है, उसके सहारेसे संस्कृत पद्योंकी रचना श्रीयुक्त न्यायतीर्थ पंडित बहेचरदासने की है और उसका हिन्दी अनुवाद तथा श्रीमद् राजचन्द्रके जीवन-परिचयका सम्पादन श्रीयुक्त पं० उदयलाल काशलीवालने किया है । मुझे आशा है कि मेरा यह प्रयत्न जनताको लाभकारक होगा । इसके अतिरिक्त श्रीमद् राजचन्द्रकी अन्य रचनाओंके भी हिन्दीमें प्रकाशित करनेका प्रयत्न शुरू है ।

मनसुखलाल रवजीभाई महेता ।

आत्मसिद्धि ।

भूमिका ।

[लेखक, स्व० श्रीमद् राजचन्द्र ।]

दुःख सब जीवोंको अप्रिय लगता है, तो भी उसका अनुभव उन्हें करना पड़ता है । इस लिए दुःखका कोई कारण अवश्य होना चाहिए । जान पड़ता है इस भरत-भूमिसे ही प्रधानतया विचारशीलोंके विचारोंका विकाश हुआ है और उसीके द्वारा फिर क्रमसे आत्मा, कर्म, परलोक और मोक्ष आदि भावोंका स्वरूप सिद्ध हुआ है ।

वर्तमानमें जब अपना अस्तित्व देखा जाता है तब भूत-कालमें भी उसे होना चाहिए; और इसी प्रकार भविष्यमें भी उसका होना आवश्यक है । मुमुक्षुओंको इसी प्रकारके विचारोंका आश्रय लेना कर्तव्य है । विचार करने पर जान पड़ता है कि किसी भी वस्तुका भूत और भविष्यमें अस्तित्व न हो तो वर्तमानमें उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता ।

जिन प्रभुका सिद्धान्त है कि वस्तुका सर्वथा उत्पाद या विनाश नहीं होता; उसका अस्तित्व सदा ही बना रहता है; मात्र रूपान्तर होता रहता है—उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं । उसके वस्तुत्व गुणका कभी नाश नहीं होता ।

इस सिद्धान्तके अनुसार शुद्धात्म-स्वरूपको प्राप्त हुए ज्ञानीजनोंने नीचे लिखी छः बातोंको सम्यग्दर्शनका सर्वोत्कृष्ट साधन बतलाया है ।

प्रथम ही बतलाया है कि 'आत्मा है' अर्थात् घट-पटादिकी भाँति आत्मा भी है । जिस प्रकार किसी खास गुणके कारण घट-पटादिका

अस्तित्व प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई पड़नेवाले स्वपर-प्रकाशक चैतन्यगुणके कारण आत्माका भी अस्तित्व प्रमाणभूत है।

दूसरे बतलाया है कि 'आत्मा नित्य है'। देखो; घट-पटादिक पदार्थ कुछ ही काल तक स्थिर रहनेवाले हैं और आत्मा सदा—तीनों काल—स्थिर रहनेवाला है। घट-पटादि संयोग-जन्य पदार्थ हैं और आत्मा स्वभाव-सिद्ध है। क्योंकि ऐसे कोई संयोग अनुभवमें नहीं आते जिनसे आत्माकी उत्पत्तिकी संभावना की जावे। किसी भी संयोगी द्रव्यसे चैतन्य-सत्ताका उत्पन्न होना असंभव है, और इसी लिए वह अजन्मा—स्वभाव-सिद्ध—है। और इसी असंयोगीपनेके कारण वह अविनाशी है; क्योंकि जो संयोग-जन्य नहीं होता उसका कभी नाश भी नहीं होता।

तीसरी बात बतलाई है कि 'आत्मा कर्त्ता है'। संसारमें जितने पदार्थ हैं उन सबमें अर्थ-क्रियाकारित्व देखा जाता है अर्थात् उनमें कुछ-न-कुछ परिणाम, क्रिया होती हुई दिखाई पड़ती है। आत्मा भी पदार्थ है, इस लिए मानना पड़ेगा कि वह भी अर्थ-क्रियाकारित्व-युक्त है। और इस अर्थ-क्रियाकारित्वके कारण ही उसे कर्त्ता कहा जाता है। श्री जिन भगवान्‌ने आत्माका कर्त्तृत्व तीन प्रकार बतलाया है। परमार्थ-दृष्टिसे तो वह अपने स्वभावका कर्त्ता है, इस लिए कि उसका अपने स्वभावमें ही परिणमन होता है; दूसरे अनुपचरित (अनुभवमें आने योग्य विशेष सम्बन्ध-रूप) व्यवहारनयसे कर्मोंका कर्त्ता है और उपचारसे गृह, नगर आदिका कर्त्ता है।

चौथे बतलाया है कि 'आत्मा भोक्ता है'। संसारमें जितनी क्रियायें होती हैं वे निष्फल—निरर्थक—नहीं होतीं। यह प्रत्यक्ष अनुभवमें

आता है कि जो जो किया जाता है, उसका फल भोगनेमें अवश्य आता है। जिस प्रकार कि विष खानेसे मौत हो जाती है, शक्कर खानेसे मुँह मीठा हो जाता है, आगके छूनेसे हाथ जल जाता है और बर्फको छूनेसे ठंडाई जान पड़ने लगती है। मतलब यह कि क्रियाका फल हुए विना नहीं रहता। इसी प्रकार आत्माके परिणाम कपाय-रूप या अकषाय-रूप—जैसे कुछ—होते हैं उनका फल भी अवश्य होता है। उन क्रियाओंका कर्त्ता होनेके कारण ही आत्मा भोक्ता है।

पाँचवें वतलाया है कि 'मोक्ष है'। जो अनुपचरित व्यवहारनयसे जीवको कर्मोंका कर्त्ता और कर्त्ता होनेके कारण ही भोक्ता वतलाया है उसी प्रकार उन कर्मोंकी निवृत्ति भी हो सकती है। यह देखा जाता है कि प्रत्यक्षमें कषायोंकी तीव्रता भी हो तो उनके छोड़नेका अभ्यास करनेसे—उनका अपने आत्माके साथ सम्बन्ध न होने देनेसे—या उनका उपशम करनेसे वे मन्द पड़ जाती हैं; नष्ट होने योग्य हो जाती हैं और नष्ट हो सकती हैं। जितने बन्ध-भाव हैं वे सब नाश होने योग्य हैं। उन बन्ध-भावोंसे रहित शुद्ध आत्म-स्वभाव ही 'मोक्ष-पद' है।

छठे बतलाया है कि 'उस मोक्षका उपाय है'। जो यह हो कि जब कर्म-बंध निरन्तर होते ही रहते हैं तो फिर उनकी निवृत्ति भी किसी कालमें नहीं हो सकती। परन्तु ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, भक्ति आदि कितने ऐसे भी साधन प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं जिनका स्वभाव कर्म-वन्धसे विपरीत है; और जिनके द्वारा कर्म-बन्ध ढीला पड़ जाता है; उसका उपशम हो जाता है या क्षय हो जाता है। इसी कारण समझना चाहिए कि ज्ञान, दर्शन, संयम आदि मोक्ष-पदके उपाय हैं।

भगवान्ने कहा है कि 'आत्मा है,' 'वह नित्य है,' 'कर्मोंका कर्त्ता है,' 'कर्मोंका भोक्ता है,' और 'उन कर्मोंसे निवृत्त हो सकता है,' तथा 'उनसे निवृत्त होनेके साधन हैं'। ये छः बातें विचार द्वारा जिसे सिद्ध हो जाती हैं—जिसे इनका ज्ञान हो जाता है—उसे 'विवेक-ज्ञान' या 'सम्यग्दर्शन' की प्राप्ति हो गई समझनी चाहिए। इन विषयोंका मुमुक्षुओंको विशेष करके अभ्यास करना चाहिए। कारण इन विषयोंके सम्बन्धमें विचार करनेका योग पूर्वजन्मके किसी विशेष अभ्यास या सत्पुरुषोंकी संगतिसे ही मिला करता है।

अनित्य पदार्थोंमें जो आत्माकी मोह-बुद्धि हो रही है उससे उसे अपने 'अस्तित्व,' 'नित्यत्व,' और 'अव्याबाध समाधि-सुख'का भान नहीं होता। उसकी मोह-बुद्धिके साथ इस प्रकारकी एकाग्रता चली आती है कि उस पर विचार करते करते घबरा कर उसे अपने विचारोंसे पराङ्मुख हो जाना पड़ता है। और इसी कारण पूर्वकालमें बहुत बार मोह-ग्रन्थिके नष्ट करनेका समय न आनेके पहले ही आत्माको अपने विचार छोड़ देना पड़े हैं। क्योंकि जिसका अनादि कालसे अभ्यास पड़ रहा है उसका, अत्यधिक पुरुषार्थ किये बिना थोड़े समयमें छोड़ा जाना अशक्य है। इस कारण बार बार सत्संग, सच्छास्त्रोंका अभ्यास, और सरल विचारोंके द्वारा इस विषयमें परिश्रम करना चाहिए, जिससे अन्तमें नित्य, शाश्वत और अनन्त सुखरूप 'आत्म-ज्ञान' होकर अपने स्वरूपका लाभ हो। इसमें जो पहले संशय उत्पन्न होते हैं वे धैर्य और विचारसे शान्त पड़ जायँगे; और इस मार्गको छोड़ कर जो अधीरता और विपरीत कल्पनाका आश्रय लिया जायगा तो उससे आत्माको अपना

हित-मार्ग त्याग देनेके लिए बाध्य होना पड़ेगा। और फिर इसका परिणाम यह होगा कि अनित्य पदार्थोंमें राग होनेके कारण आत्माको बार बार संसार-परिभ्रमण करते रहना पड़ेगा।

ज्ञानियोंने इन छः बातोंको सम्यग्दर्शनका मुख्य निवास-स्थान बतलाया है, जिनका ऊपर संक्षेपमें उल्लेख किया गया है। विचार करने पर निकट भव्य प्राणी—तद्भव मोक्षगामी—इनका स्वरूप सहज ही सप्रमाण समझ सकता है—इनका उसे परम निश्चय हो सकता है। इनका सब ओरसे विस्तार-पूर्वक विचार-मनन करके आत्मामें विवेक उत्पन्न करना चाहिए। परम पुरुषोंने यह कहा है कि ये छः बातें अत्यन्त सन्देह-रहित हैं। इनका स्वरूप आत्माको अपने स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए कहा है। ज्ञानी पुरुषोंने इनका उपदेश जीवके उस अहंभाव–ममत्व-भाव–के दूर करनेके लिए किया है जो अनादि स्वप्न-दशाके कारण उसमें उत्पन्न हो रहा है। यदि जीवके ऐसे परिणाम हों कि इस स्वप्न-दशासे रहित मेरा स्वरूप है तो सहज ही वह जाग्रत होकर सम्यग्दर्शन लाभ कर सकता है। और फिर इसी सम्यग्दर्शनके द्वारा स्व-स्वभाव-रूप मोक्षको प्राप्त हो सकता है। फिर उसे विनाशीक, अशुद्ध तथा इसी प्रकारके अन्य भावोंमें हर्ष, शोक, संयोग आदि उत्पन्न नहीं होते। विचार करने पर उसे अपने ही स्वरूपमें शुद्धता, पूर्णता, अविनश्वरता, अत्यन्त आनन्दमयता और अंतरहितता आदि स्वाभाविक गुणोंका अनुभव होने लगता है। उसे स्पष्ट—प्रत्यक्ष—अत्यन्त प्रत्यक्ष—अनुभव होता है कि सब विभाव-पर्यायोंमें जो एकता हो रही है वह मेरे ही अध्यास—परिणाम—से हुई है, वास्तवमें तो मैं उनसे सर्वथा भिन्न हूँ। विनाशीक तथा अन्य

पदार्थोंके संयोगमें उसे इष्ट-अनिष्टपना नहीं होता। वह अपने स्वरूपको जन्म-जरा-मरण-रोग आदिसे रहित तथा सब माहात्म्यका स्थान जान कर, अनुभव कर, कृतार्थ हो जाता है। जिन जिन पुरुषोंको परम पुरुषोंके इन वचनों द्वारा कि ये छः बातें सप्रमाण हैं, आत्माका निश्चय हुआ है उन उन पुरुषोंने अवश्य आत्म-स्वरूप प्राप्त किया है। वे आधि-व्याधि-उपाधि-के सर्व-संगसे मुक्त हुए हैं, होते हैं और इसी प्रकार भविष्य कालमें भी होंगे।

जिन पुरुषोंने जन्म-जरा-मरणके क्षय करनेवाला और स्व-स्वरूपमें सहज स्थिति करानेवाला उपदेश किया है उन महा पुरुषोंके लिए अत्यन्त भक्ति-पूर्वक नमस्कार है। और जिनकी निष्कारण करुणाकी नित्यप्रति निरन्तर स्तुति करते रहनेसे आत्म-स्वरूप प्रगट होता है, वे सब सत्पुरुष तथा उनके चरण-कमल सदा मेरे हृदयमें विराजमान रहें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्रीमद् राजचन्द्र ।
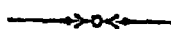
परिचय ।

'बम्बई समाचार' नामके दैनिक पत्रने सन् १८८६ दिसम्बर ता० ९ के अंकमें नीचे लिखा शीर्षक देकर अपने अग्रलेखमें लिखा थाः—

अद्भुत स्मरण-शक्ति तथा कवित्व-शक्ति-सम्पन्न एक युवा हिन्दूका आगमन और उसके द्वारा किये गये शतावधान ।

"श्रीयुत कवि राजचन्द्र रवजीभाईकी उम्र इस समय कुल १९ वर्षकी है । वे एक हिन्दू-गृहस्थ हैं । मोरवीसे यहाँ आकर उन्होंने अपनी स्मरण-शक्ति तथा कवित्व-शक्तिके जो अद्भुत प्रयोग करके दिखलाये हैं पाठकोंको समय समय पर हम उनका परिचय कराते आ रहे हैं । ऐसी महान शक्तिके धारक कई पुरुष यहाँ आ चुके हैं; और खुद बम्बईहीमें शीघ्र-कवि श्रीयुत पंडित गट्टूलालजी इस प्रकारकी शक्तिके धारक हैं । परन्तु कुछ लोगोंका कहना है कि श्रीमद् राजचन्द्रकी शक्ति उनसे भी कहीं बढ़ी-चढ़ी है । दूसरे जहाँ एक साथ आठ आठ अवधान करते हैं वहाँ श्रीमद् राजचंद्र एक साथ कोई सौ अवधान करनेवाले समझे जाते हैं । उनकी शक्तिमें सबसे बड़ी भारी खूबी यह है कि वे एक ही समयमें

कई विषयोंको अपने मनमें रख कर उन पर रचना कर सकते हैं। वे विषय जैसे ही सरल होते हैं वैसे ही उनमें कविता, गणित आदि कठिन विषय भी रहते हैं। चाहे जैसी अपरिचित और विदेशी भाषाके कहे हुए उलटे-सीधे शब्दोंको वे सुधार कर ठीक कर देते हैं। और यह सब अवधानके साथ बीच बीचमें करते हैं। वास्तवमें यह शक्ति अद्भुत और असाधारण है। इस शक्तिके सम्बन्धमें इस बातका शोध लगा कर लाभ उठानेका प्रयत्न करना चाहिए कि यह कैसे तो विकाशको प्राप्त होती है तथा कैसे उपयोगमें आती है। इतना तो सच है कि ऐसी शक्तिका प्राप्त होना प्रकृति-प्रदत्त मात्र है; और यह उपहार किसी विरले ही भाग्यशालीको मिलत-है। इस बातके जाननेकी आवश्यकता है कि यह शक्ति विकाशको प्राप्त हो सकती है या नहीं, अथवा बढ़ सकती है या नहीं और मनुष्या मात्रके आचरण-व्यवहारमें आ सकती है या नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि इसका उपयोग नहीं किया जा सकता; और करनेका यदि प्रयत्न किया जाय तो इसका बल दिनों-दिन कम होता जायगा। इस बातका पता लगाना चाहिए कि लोगोंके इस कथनमें कितनी सत्यता है। यदि इसका उपयोग न किया जा सके तब तो समझना चाहिए कि यह मात्र देखनेके लिए एक नई वस्तु ही ठहरी। परन्तु हम एकदम इस बातको कबूल नहीं कर सकते। क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य-जातिमें ईश्वर-प्रदत्त शक्तियाँ विकसित हो सकती हैं, बढ़ सकती हैं उसी प्रकार इस अद्भुत शक्तिके सम्बन्धमें भी होना चाहिए। और यदि ऐसा होना संभव है तो फिर ऐसे विलक्षण पुरुषोंको उत्तेजित करके उनकी शक्तिको विकसित करने

तथा उपयोगमें लानेके लिए प्रयत्न करनेमें हमें कोई वात उठा न रखनी चाहिए। यह बड़े ही दुःखकी बात है कि ऐसी शक्तिके धारक पुरुष प्रायः गरीब होते हैं। जिस प्रकार ऐसे पुरुषोंके लिए गरीब होना उनके दुर्भाग्यकी बात है उसी प्रकार देश-वासियोंका ऐसे योग्य पुरुषोंकी कदर न करना और भी अधिक दुर्भाग्यकी बात है। ऐसे पुरुष यदि यूरप या अमेरिकामें होते तो वे बहुत कुछ मान-मर्यादा प्राप्त कर धनशाली बन सकते और वहाँकी प्रजा तथा सरकार उन्हें उत्तेजना प्रदान कर उन्नतिके विशाल मार्गमें आगे किये विना नहीं रहती। यहाँ भी ऐसा ही होना चाहिए। और ऐसा होने पर ही ऐसे पुरुषोंकी बढ़वारीकी हम आशा कर सकते हैं। इस बातका भी शोध लगाना चाहिए कि ऐसे पुरुष हिन्दूजातिहीमें क्यों दिखाई पड़ते हैं। इसका क्या कारण है कि मुसलमान, पारसी आदि जातियोंमें ऐसे पुरुष नहीं दिखाई पड़ते। क्या ऐसे पुरुषोंके उत्पन्न होनेके लिए कोई खास जाति ही नियुक्त है या वे वंश-परम्परा पर उतरते हैं? इन बातोंकी खोज करने पर कोई खास बात अवश्य ज्ञात हो सकेगी और उससे ऐसे पुरुषोंके उत्पन्न होनेका कोई नियम जान पड़ेगा कि जिससे उनकी वृद्धि होकर प्रजाको लाभ हो।"

मि० मलावारीके 'इण्डियन स्पेकटेटर' नामके पत्रमें ता० २८ नवम्बर १९०९ के अंकमें लिखा थाः—

"कच्छ और मोरवीके मध्यवर्त्ती ववाणिया-निवासी एक युवा, शतावधानी, कवि श्रीमद् राजचन्द्र रवजीभाईका हमें समागम प्राप्त हुआ। इनकी शक्तिको देख कर बड़ा भारी आश्चर्य होता था। श्रीमद् राजचन्द्र

जातिके वैश्य हैं। ये जन्मसे ही कवि हैं और शतावधानी हैं अर्थात् इनकी मानसिक शक्ति एक ही समयमें जुदे जुदे सौ कार्योंको कर सकती है। यद्यपि ये एक मात्र गुजराती भाषा ही जानते हैं तथापि अपनी अद्भुत शक्तियोंका भिन्न भिन्न सोलह भाषाओं पर एक ही वारमें उपयोग कर सकते हैं। जिज्ञासुओंको ऐसे महा पुरुषका परिचय करा कर हम प्रसन्न हुए।"

अँगरेजीके प्रसिद्ध पत्र 'टाईम्स आफ इण्डिया' के ता० २४ जनवरी १८८७ के अंकमें लिखा थाः—

स्मरण-शक्ति तथा मानसिक शक्तिके अद्भुत प्रयोग।

"राजचंद्र रवजीभाई नामके एक १९ वर्षके युवा हिन्दूकी स्मरण-शक्ति तथा मानसिक शक्तिके प्रयोग देखनेके लिए, गत शनिवारको संध्या-समय, फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूटमें देशी सज्जनोंका एक भव्य सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलनके सभापति डाक्टर पिटर्सन नियुक्त हुए थे। भिन्न भिन्न जातियोंके दर्शकोंमेंसे दस सज्जनोंकी एक समिति संगठित की गई। इन सज्जनोंने दस भाषाओंके छः छः शब्दोंके दस वाक्य बना कर लिख लिये और उन्हें बे-तरतीबीसे बारी बारीसे सुना दिया। इसके थोड़े ही समय बाद इस हिन्दू युवाने दर्शकोंके देखते देखते अपनी स्मृतिके बल उन सब वाक्योंको क्रम वार सुना दिया। युवककी इस विलक्षण शक्तिको देख कर उपस्थित मंडली बहुत ही खुश हुई। इस युवाकी स्पर्शन-इन्द्रिय और मन-इन्द्रिय अलौकिक थी। इस बातकी परिक्षाके लिए भिन्न भिन्न आकारकी कोई बारह जिल्दें इसे बतलाई गई, और उन सबके नाम सुना दिये गये। इसके बाद इसकी आँखों पर पट्टी बाँध कर इसके हाथों पर जो जो पुस्तकें

रक्खी गईं. उन्हें हाथोंसे टटोल कर इस युवकने उन सब पुस्तकोंके नाम बतला दिये। डाक्टर पिटर्सनने इस युवककी, इस प्रकार आश्चर्य-भरी स्मरण-शक्ति और मानसिक शक्तिको देख कर इसे बहुत बहुत धन्यवाद दिया और जैन समाजकी ओरसे सुवर्ण-पदक प्रदान किया।"

इस प्रकार श्रीमद् राजचंद्रकी जब मात्र १९ वर्षकी अवस्था थी तब बम्बईकी जनताको इनका परिचय मिला। उस समय सर चार्ल्स सारजंट बम्बई-हाईकोर्टके चीफ जस्टिस् थे। वे श्रीमद् राजचंद्रकी इस शक्तिको देख कर बहुत खुश हुए। इसके बाद भी श्रीमद् राजचंद्रके साथ आपका बहुत कुछ समागम होता रहा। सुना जाता है कि सारजंट महोदयने श्रीमद् राजचंद्रसे एक बार इंगलैण्ड चलनेके लिए भी आग्रह किया था; परंतु ये चार्ल्स महोदयकी इच्छाके अनुकूल न हुए।

उन्होंने सर चार्ल्सका कहना क्यों स्वीकार नहीं किया, इसका कारण वे लोग तो अच्छी तरह जानते हैं जिनका कि उनके साथ घनिष्ट सम्बंध रहा है या जो उनकी प्रकृतिसे परिचित हैं। परन्तु जिन लोगोंका श्रीमद् राजचंद्रसे परिचय नहीं है उनकी उत्कण्ठाकी बहुत कुछ परितृप्ति राजचंद्रके प्रकाशित लेख आदि यथेष्ट साधनोंके अन्वेषणसे हो सकेगी। लगभग इसी समयमें श्रीमद् राजचंद्रने जो 'मोक्षमाला' नामकी पुस्तक प्रकाशित की थी, उसमें उन्होंने अपने जीवनके 'सामान्य मनोरथ' पर विचार किया था। उसके देखनेसे जान पड़ता है कि उनकी प्रवृत्ति किसी दूसरे ही रास्ते पर जा रही थी। अपने उन मनोरथों पर उन्होंने एक छोटीसी कविता लिखी थी। उसमें लिखा है—

"मोहनीय-भावोंके वश होकर मैं पर-स्त्रियोंको न देखूँ; निर्मल ता-

त्विक लोभको अपना कर परकीय वैभव—धन-दौलत—को पत्थरके समान समझूँ; और बारह व्रत तथा विनीतता धारण कर, अपने स्वरूपका विचार कर अपनेमें सात्त्विक-भाव—वीतराग-दशा—उत्पन्न करूँ। सदा कल्याणकारी और संसारका नाश करनेवाला मेरा यह नियम अखण्ड रहे।"

तथा—

"श्रीवीरप्रभुको हृदयमें धारण कर अपने ज्ञान और विवेकको बढ़ाऊँ; नित्य नई तत्त्वोंकी खोज करके अनेक प्रकार उत्तम ज्ञान लाभ करूँ; और जिनप्रभुके उपदेशको धारण करूँ कि जिससे संशय-रूपी बीज हृदयमें न उग सकें। हे आत्मन्, तू सदा यह मनोरथ कर, कि यही मेरा राज्य है। इससे तू मोक्षके किनारे जा पहुँचेगा।"

श्रीमद् राजचंद्रके इन मनोरथोंसे जान पड़ता है कि उनका चित्त स्व-परके कल्याण-निमित्त तत्पर था। उनकी कविताके पहले दो चरण इस बातको प्रकट करते हैं कि वे जिनप्रभुके कहे हुए स्वदार-सन्तोष-व्रत तथा परिग्रह-परिमाण-व्रतके धारक रह कर चलना चाहते थे। क्योंकि उन्होंने जो पर-स्त्री तथा पर-धनका निषेध किया है वह उक्त व्रतोंके धारण-पूर्वक रहनेको ही सूचित करता है। आगेके चरणोंसे जान पड़ता है कि वे आत्म-हितकी इच्छा-पूर्वक गृहस्थावस्थाका उत्तम रीतिसे उपभोग करते हुए आत्म-कल्याण करना चाहते थे। और इस कारण उनकी बड़ी अभिलाषा थी कि वे आत्म-कल्याणके साथ साथ समाजको भी जिनप्रभुके उपदेशानुसार ज्ञान-विवेकादिका यथार्थ तत्त्व समझावें।

इस प्रकार जिस पुरुषके मनोरथ हों उसकी इच्छा स्वभावसे ही

प्रवृत्तिकी ओर न होनी चाहिए। जान पड़ता है इसी लिए श्रीमद् राजचंद्रकी इच्छा इंगलैण्ड आदि विदेशोंमें जानेकी न हुई होगी। और बहुत संभव है इसी कारण उन्होंने सर चार्ल्स महोदयसे इन्कार कर दिया था।

जब यह बतलाया गया कि मात्र १९ वर्षकी अवस्थामें ही श्रीमद् राजचंद्रमें स्व-पर-कल्याणकी इस प्रकार महत्त्वाकांक्षा जाग्रत हो गई थी तब स्वभावसे यह प्रश्न होता है कि इस प्रकारकी महत्त्वाकांक्षा करनेके पहले उनमें इस प्रकारके विचार करनेकी शक्ति कैसे उत्पन्न हुई? यह एक बड़ी कठिन समस्या है कि इस प्रश्नका समाधान किस प्रकार किया जाय। ऊपर उल्लेख किये हुए श्रीमद् राजचंद्रके मनोरथोंके पहले भाग परसे जान पड़ता है कि उनका पहला मनोरथ आत्म-हित साधन करनेका था; और दूसरा मनोरथ नव तत्त्वोंकी स्वयं विशेष जानकारी प्राप्त कर समाजको उसका लाभ प्राप्त कराना था। जिन्होंने मानस-शास्त्रका अभ्यास किया है वे जानते हैं कि जब मनुष्यमें किसी भी प्रकारके विचार उत्पन्न होते हैं तब उसके पहले उस मनुष्यको उसी प्रकारके विचार-वातावरणमें रहने, या ऐसे ही विचारोंके अभ्यास या अवलोकन करनेकी आवश्यकता है। मतलब यह कि जिस प्रकारके विचार मनमें उठें उसके पहले उस विषयका ज्ञान होना ही चाहिए। हमारे मनमें एक विशाल, भव्य भवन बनानेके विचार तब ही उत्पन्न हो सकते हैं जब कि हमने वैसा ही भव्य भवन कहीं प्रत्यक्ष या परोक्ष देखा हो—उसे स्वयं देखा हो या किसीके द्वारा उसका विवरण सुना हो। इन दोनों बातोंमेंसे किसी एक प्रकारका ज्ञान हुए बिना किसी वस्तु या विषयका विचार—ज्ञान—नहीं हो सकता। जिस भाँति

भव्य भवनकी इच्छाको पूरा करनेके लिए—प्रत्यक्ष या परोक्ष—वैसे ही भवनके देखनेकी आवश्यकता है उसी भाँति भव्य विचार-भवनकी इच्छा होनेके पहले उसी प्रकारके विचारोंकी—प्रत्यक्ष या परोक्ष—जानकारीकी भी आवश्यकता है। इस बातको सरल भाषामें यों कहा जा सकता है कि किसी भी प्रकारके विचार मनमें तब ही उठते हैं जब कि उसी प्रकारके विचार-वातावरणमें रह कर मनने उस प्रकारकी शिक्षा लाभ की हो। श्रीमद् राजचंद्रकी जैसी महत्त्वाकांक्षा थी, कहना कठिन है कि उस प्रकारके विचारोंका प्रत्यक्ष या परोक्ष अवलोकन उनने कब किया। भारतवर्षमें शिक्षाका प्रचार जितना आज है ३० वर्ष पहले वह बहुत ही कम था। और काठियावाड़में तो इससे भी बहुत कम था। श्रीमद् राजचंद्र जिस दो हजारकी बस्तीवाले एक छोटेसे गाँवमें रहते थे वहाँ उन्हें सिर्फ गुजरातीकी सातवीं पुस्तक तककी शिक्षा मिल सकी थी। इसके सिवाय वे विशेष कुछ पढ़े-लिखे न थे। वे १९ वर्षकी उम्रमें जब मोरबीसे बम्बई आये उसके पहले उन्होंने मोरबी, राजकोट, भुज या ऐसे ही और एक-दो गाँवोंके सिवाय कुछ देखा न था। आश्चर्य है कि ऐसे एक छोटेसे बालकने सतरह-अठारह वर्षकी उम्रमें ही ऐसी भारी महत्त्वाकांक्षा जाहिर की! मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे देखने पर बड़ी कठिनता आकर उपस्थित होती है कि इस प्रकारकी महत्त्वाकांक्षाके उत्पन्न होनेके कारण उन्हें कब और कैसे मिल गये। लगभग तेरह वर्षकी उम्र तक तो वे अपनी जन्मभूमि छोड़ कर ऐसे किसी स्थान पर भी न गये कि जहाँ उन्हें इस प्रकारके विचार-वातावरणका समागम मिल सकता। इसके कोई तीन या साढ़े तीन वर्ष-बाद उन्होंने 'मोक्षमाला' नामक ग्रन्थको लिखनेका विचार किया।

इसके पहले भी उन्होंने प्रायः मोरवी, राजकोट, वढवाण, भुज, जामनगर तथा ऐसे ही एक-दो और छोटे छोटे गाँवोंके सिवाय कुछ न देखा था। और इन गाँवोंमें भी उनका जिन लोगोंसे परिचय था वे भी इनके खास गुणोंके कारण इन पर अधिक श्रद्धाके ही रखनेवाले थे। मतलब यह कि इन्हें कोई ऐसे कारण न मिले जो इनके विचारोंके विकाशमें उपकारक होते। ऐसे बहुतसे परिचित जन थे जो इनसे ज्ञान-लाभ करनेकी इच्छा करते; परन्तु इनके विचारोंकी वृद्धिका कोई जरिया न थी।

इस विषयका विचार करनेके लिए हमें कुछ गहरा उतरना पड़ेगा। श्रीमद् राजचंद्र १३ वर्षकी उम्र तक ववाणियाको छोड़ कर कहीं बाहर नहीं गये थे। चौदह या पंद्रह वर्षकी अवस्था होने पर उन्हें मोरवी जानेका मौका मिला। उस समय मोरवीमें शंकरलालजी नामके एक शीघ्र-कवि निवास करते थे। वे आठ अवधान करते थे। श्रीमद् राजचंद्रको भी उनके अवधानोंके देखनेका मौका मिला। उनके अवधान देख कर इनके मनमें भी ऐसे ही अवधान करनेकी इच्छा हुई। और दूसरे ही दिन इन्होंने इसी प्रकारके अवधान करके बतला दिये। इसके बाद लगभग सतरह वर्षकी उम्रमें इनने जामनगरमें कोई सोलह अवधान करना आरंभ किया। उस समय (१९४१) काठियावाड़में 'धर्म-दर्पण' नामका एक पत्र निकलता था। उसमें श्रीमद् राजचंद्रके विषयमें एक छोटासा नोट प्रकाशित हुआ था। उसका सार यह है:—

"जो लोग पुन-र्जन्म नहीं मानते उनके लिए शीघ्र-कवि श्रीमद् राजचंद्रकी अद्भुत शक्ति इस बातके सिद्ध करनेको बहुत बड़ा प्रबल प्रमाण है कि पुन-र्जन्म अवश्य है। भारतवर्षकी आर्य-जातिको राजचंद्र जैसे कविकी

स्वाभाविक शक्तिके लिए अभिमान होना चाहिए। उस भूमि तथा उस जननीको धन्य है कि जिसकी कृपाने भारत-भूषण महात्मा राजचंद्रको शतावधान-पर्यन्त पहुँचनेको उत्साहित किया।"

'धर्म-दर्पण'के इस लेखके लगभग एक वर्ष पहले—सोलह वर्षकी उम्रमें–श्रीमद् राजचंद्रने एक 'मोक्षमाला' नामकी ग्रन्थमालाके निकालनेका विचार किया था। इस मालामें इस समय आपकी लिखी हुई 'भावना-बोध' नामकी एक पुस्तक निकली है। इस पुस्तकको कविने अपनी सोलह वर्ष और पाँच महीनेकी उम्रमें लिखा था। इसे भी उनने 'मोक्षमाला' के जितनी ही विस्तृत लिखनेका विचार किया था; परन्तु फिर विचार हुआ कि इस रूपमें वह पाठकोंको कठिन पड़ जायगी। इस कारण फिर उन्होंने वर्तमानमें 'मोक्षमाला' जितनी बड़ी है उतनी ही बड़ी उसे लिखना शुरू की। उसका एक भाग 'भावनाबोध'के रूपमें प्रकाशित किया गया है। 'भावनाबोध'की रचनाके देखनेसे इस बातका आभास हो सकेगा कि उस समय कविके विचार किस प्रकारके थे। विस्तारके भयसे 'भावनाबोध'का कोई विशेष अंश उद्धृत न करके केवल उसके उपोद्घातका एक थोड़ासा अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है।

"चाहे जैसे तुच्छ विषयोंमें प्रवृत्ति होने पर भी निर्मल आत्माओंका स्वाभाविक वेग वैराग्यकी ओर ही जाता है। बाह्य-दृष्टिसे ऐसे आत्मा जब तक संसारके माया-जालमें फँसे रहते हैं तब तक उक्त विषयकी सिद्धि संभवतः दुर्लभ है; तथापि यह निस्सन्देह है कि सूक्ष्म-दृष्टिसे अवलोकन करने पर इसका प्रमाण बहुत सुलभतासे मिल सकता है।"

"एक छोटेसे प्राणीसे लेकर मस्त हाथी-पर्यन्त सब प्राणियों—मनुष्य, देव-दानव आदि—की स्वाभाविक इच्छा सुख और आनन्दके प्राप्त करनेकी दिखाई पड़ती है। और इसी कारण सब प्राणी सुखके उपायोंमें गुँथे रहते हैं; परन्तु विवेक-बुद्धिके विना वे उल्टे भ्रममें पड़ जाते हैं। वे बतलाते हैं कि संसारमें अनेक प्रकारके सुख हैं। परन्तु गहरी दृष्टिसे देखने पर जान पड़ता है कि उनकी यह कल्पना मिथ्या है। इस कल्पनाको जिन्होंने मिथ्या समझा है ऐसे लोग बहुत ही विरले हैं। उनका कहना है कि विवेकके प्रकाश द्वारा अद्भुत और अन्य सुखोंको प्राप्त करो, कि जिनमें संसारके सुखका सम्बन्ध न हो। कारण जिन सुखोंमें भय हैं, वे सुख नहीं हैं; किन्तु दुःख हैं। जिस वस्तुके प्राप्त करनेमें संताप होता है, और जिसके भोगनेमें उससे भी अधिक संताप है तथा इसी प्रकार जिसके परिणाममें महा संताप, अनंत शोक और अनन्त भय है उस वस्तुका सुख नाम मात्रका सुख है अथवा यों कहना चाहिए कि सुख है ही नहीं। इसी कारण विवेकी जन संसारके सुखोंमें अनुरक्त नहीं होते।"

इस बातके लिए खास अनुरोध है कि पाठक 'भावनाबोध'का आदिसे अन्त-पर्यन्त एक बार अवश्य अवलोकन कर उसके लेखककी भावनाओं पर विचार करें। 'मोक्षमाला'को श्रीमद् राजचंद्रने सतरह वर्षकी उम्रमें लिखा था। इसका जो 'बालाबोध-मोक्षमाला' नामसे पहला भाग प्रकाशित किया गया है उस परसे जान पड़ता है कि राजचंद्रकी इच्छा इसे तीन भागोंमें लिखनेकी थी। उन्होंने इसकी प्रस्तावनामें लिखा है कि "यह योजना बालकोंको ज्ञान करानेके लिए है। इसके 'विवेचनबोध' और 'प्रज्ञाबोध' भाग जुदे हैं।" जिन्होंने 'बालबोध-मोक्षमाला' को

देखा है वे जानते हैं कि यह भाग वीतराग-मार्गकी प्रवेशिका-रूप है। इस पुस्तकके विचारोंको पढ़नेसे यह स्पष्ट ज्ञान हो सकेगा कि लेखकका जैन तथा अन्य दर्शन-विषयक ज्ञान कैसा था तथा उसमें संसारके स्वरूपका अवलोकन करनेकी शक्ति कैसी थी। इच्छा होती है कि 'भावनाबोध' तथा 'मोक्षमाला' के विषयोंका पृथक्करण करके उनके रचयिताकी उस समयकी शक्तिका वास्तविक परिचय कराया जाय; परन्तु यह प्रयत्न असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस कारण इस जगह सिर्फ 'बालबोध-मोक्षमाला'का कुछ अंश लेखककी विचार-श्रेणी तथा अवलोकन-बुद्धिकी परीक्षाके अर्थ उद्धृत कर देना उचित जान पड़ता है।

"इस संसारमें अनेक प्रकारके धार्मिक मत हैं। यह बात न्याय-सिद्ध है कि ये सब मत अनादि कालसे चले आते हैं। परंतु जान पड़ता है कि देश-कालादिके सम्बन्धसे इन भेदोंमें रूपान्तर हो गया है। इनमें कितने ही मत केवल नास्तिक लोगोंके चलाये हुए हैं। कितने सामान्य नीतिको धर्म कहते हैं। कितने ज्ञानको धर्म कहते हैं। कितने अज्ञानको धर्म बतलाते हैं। कितने भक्तिको, कितने क्रियाको, कितने विनयको तथा कितने शरीरकी रक्षा करनेको ही धर्म कहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन धार्मिक मतोंके स्थापकोंने लोगोंको ऐसा समझाया है कि हम जो कुछ कहते हैं वही सर्वज्ञ-वाणी-रूप है और सत्य है; और बाकीके जितने मत-मतांतर हैं वे सब असत्य हैं, कुतर्कवाद हैं। यही कारण है कि इन मताग्रही लोगोंने योग्य अयोग्यका विचार न कर परस्परका खण्डन किया है। वेदान्त तथा सांख्यके उपदेशक लोगों भी यही कहना है। और बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, शाक्त, वैष्णव,

इस्लाम, क्रिश्चियन तथा इसी प्रकार पृथ्वीके सब ही धर्म कहते हैं कि हमारा धर्म तुम्हें सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्रदान करेगा। अब कहिए हम किसको सत्य समझें ? न तो वादी और प्रतिवादी दोनों सच्चे होते हैं और न दोनों झूठे ही होते हैं। बहुत हुआ तो वादी कुछ अधिक सच्चा होता है और प्रतिवादी कुछ थोड़ा झूठा होता है। यह एक आश्चर्यकी बात है कि दोनोंकी बातें न सर्वथा झूठी होती है, और न सबको सत्य ही कहा जा सकता है। यदि सबको असत्य कहें तो हम स्वयं नास्तिक ठहरते हैं और धर्मकी सत्यता नष्ट होती है। और यह तो निश्चित है कि धर्ममें सत्यता है तथा संसारमें उसकी आवश्यकता भी है। यदि यह कहें कि इन धर्मोंमें एक ही सच्चा है और सब झूठे हैं तो इस बातको फिर सिद्ध करना चाहिए। इसी प्रकार सभी धर्मोंको सत्य कहना भी बालूकी भींत चुननेके बराबर है। कारण ऐसा होता तो फिर इतने मत-भेद ही क्यों होते ? और जो कुछ मत-भेद न हो तो सब धर्मगुरु अपने अपने मतोंके स्थापित करनेके लिए क्यों प्रयत्न करते ? इस प्रकारके परस्पर-विरोधी विचारोंको देख कर थोड़ी देर तक चुप रह जाना पड़ता है। इस विषयमें अपनी बुद्धिके अनुसार मैं कुछ खुलासा करता हूँ। यह खुलासा सत्य और माध्यस्थ भावनाके वश होकर किया जाता है। इसमें एकान्त या मताग्रह नहीं है, पक्षपात या अविवेक नहीं है; किन्तु यह उत्तम और विचार करने योग्य है। देखनेमें यह सामान्य जान पड़ेगा; परन्तु सूक्ष्म विचारसे इसमें बहुत रहस्य रहेगा। इतना तो तुम्हें स्पष्ट मानना पड़ेगा कि संसारमें चाहे कोई एक धर्म सम्पूर्ण-रूपसे सत्य है। इस पर तुम कहोगे कि तब साथ ही यह भी सिद्ध हो जायगा कि उस धर्मको छोड़

कर बाकीके सब धर्म असत्य हैं; परन्तु मैं यह नहीं कह सकता। मेरा कहना है कि शुद्ध आत्म-ज्ञानके कारण निश्चय-नयके द्वारा वे धर्म असत्य ठहर सकते हैं; परन्तु व्यवहार-नयसे उनको असत्य नहीं ठहराया जा सकता। मैं कहता हूँ कि एक धर्म सत्य है, बाकीके अपूर्ण और सदोष हैं। इसी प्रकार कुछ कुतर्कवादी तथा नास्तिक सर्वथा असत्य हैं; परन्तु जो परलोक तथा पाप-सम्बंधी कुछ ज्ञान सिखलाते हैं उन धर्मोंको अपूर्ण तथा सदोष कहना चाहिए। जो एक दर्शन पूर्ण और निर्दोष कहा गया उसके सम्बन्धकी चर्चाको थोड़ी देरके लिए हम एक ओर रख कर दूसरा विचार करते हैं।

तुम्हें शंका होगी कि जिन बाकीके मतोंको तुमने सदोष और अपूर्ण बतलाया उनके प्रवर्त्तकोंने ऐसा उपदेश क्यों किया? इस प्रश्नका समाधान होना बहुत आवश्यक है। बात यह है कि इन धर्म-प्रवर्त्तकोंकी बुद्धिकी गति जहाँ तक थी वहीं तक इन्होंने विचार किया है। अनुमान, तर्क, उपमान आदि प्रमाणों द्वारा जो कथन सिद्ध होता जान पड़ा वह इन्हें प्रत्यक्ष-सा ही ज्ञात हुआ; और उसीके अनुसार फिर इन्होंने उसका उपदेश किया। इन्होंने जिस पक्षको ग्रहण किया उसे एकान्त-रूपसे ग्रहण किया। भक्ति, श्रद्धा, नीति, ज्ञान या क्रिया आदिमेंसे एक ही विषयका विशेष वर्णन किया। इनके सिवाय अन्य जिन मानने योग्य विषयोंका भी इन्होंने वर्णन किया उन सबके वास्तविक स्वरूपको ये अच्छी तरह कुछ भी समझ सके; परन्तु अपनी विशाल बुद्धिके अनुसार इनने उनका भी बहुत वर्णन किया। तर्क-सिद्धान्त तथा उदाहरणादिसे सामान्य बुद्धिवाले तथा जड़भरतके जैसे लोगोंके सामने इनने अपने मतकी बहुत

अच्छी तरह सिद्धि करदी । इनके मनमें कीर्ति, लोक-हित या अपनेको भगवान कह कर पुजवानेकी आकांक्षा आदिमेंसे कोई एक भ्रम समाया हुआ था; और इसी कारण इनने यत्परोनास्ति प्रयत्न कर विजय प्राप्त कर लिया । कितनोंने शृंगार और लोगोंकी इच्छाके अनुसार साधनोंकी सृष्टि कर उनके चित्तको मोह लिया । दुनिया मोह-वश हो सब कुछ भूल जाती है । मतलब यह कि लोग अपनी इच्छाके अनुसार ही इन धर्म-स्थापकोंके धर्मको देख कर उस पर मुग्ध हो गये और गडरिया-प्रवाहकी तरह फिर उनकी संख्या बढ़ने लगी । कितनोंने इन धर्मोंमें नीति, ज्ञान और वैराग्य आदि देख कर उनके उपदेशको स्वीकार किया । बात यह है कि साधारण जनतासे धर्म-प्रवर्तकोंकी बुद्धि अधिक होनेके कारण उसने इनको साक्षात् भगवानके रूपमें ही मान लिया । कितनोंने धर्म फैलानेके लिए पहले तो वैराग्यका उपदेश किया और बादमें उसकी जगह सुख-चैनके साधनोंको प्रविष्ट कर दिया । कहनेका मतलब यह कि अपने मतके स्थापन करनेकी भ्रान्ति या ज्ञानकी अपूर्णता आदि किसी भी कारणसे क्यों न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि उन लोगोंको दूसरोंका कहना अच्छा नहीं जान पड़ा; और इसी लिए फिर उन्होंने अपना एक भिन्न ही मत स्थापन किया । इसी तरह धीरे धीरे अनेक मतोंका जाल फैलता गया । ऐसे धर्म जिन घरोंमें चार-पाँच पीढ़ी तक माने-पूजे गये कि फिर वे उनके कुल-धर्म ही हो गये । इसी प्रकार जगह जगह होता गया ।"

इन विचारोंको यहाँ इस लिए उद्धृत नहीं किया गया है कि पाठक इन पर अपने विचार जाहिर करें; परन्तु इस लिए किया है कि श्रीमद् राजचंद्रके इस विषयमें कैसे विचार थे । ऊपर यह बात लिखी जा चुकी है

कि यह अंश 'बालबोध-मोक्षमाला'के ऊपरसे लिया गया है और राजचंद्र जब सतरह वर्षके थे तब ही उनकी इच्छा इस 'मोक्षमाला'के 'प्रज्ञा-बोध' और 'विवेचन-बोध' ऐसे दो भागोंके लिखनेकी ओर थी। 'मोक्षमाला'के उद्धृत किये हुए विचार श्रीमद् राजचंद्रने बाल-बुद्धियोंके लिए लिखे हैं। वे ही जब इतने गंभीर हैं तब उन दो भागोंके विचार कितने महत्त्व-पूर्ण होते यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। किसी भी विषयके लिखनेके पहले उसके लेखकमें उस विषयका ज्ञान इतना अधिक होना चाहिए कि वह स्वयं उस विषयको अच्छी तरह समझता हो और दूसरोंको लिखकर समझा सकता हो। जिसने साधारण लोगोंके लिए ऐसे गंभीर विचार लिखे हैं तब सोचिए कि इन विचारोंके साथ तुलना करनेमें 'प्रज्ञाबोध' और 'विवेचन-बोध'के विचार कितने गंभीर और ज्ञान-पूर्ण होते; और फिर वे विचार दूसरेको भी समझाये जा सकें इसके लिए उसके लेखकमें कितना ज्ञान होना चाहिए था। इस पर विचार करनेसे पाठकोंको श्रीमद् राजचंद्रके उस समयके ज्ञानका ठीक ठीक पता चल सकेगा।

हमें उनके ज्ञानका ठीक पता चले इसकी अपेक्षा इस बात पर विचार करनेकी आवश्यकता है कि उनकी शक्ति कैसे विकाशको प्राप्त हुई थी। यह कहा जा सकता है कि वर्तमानमें जब इकवीस वर्षकी छोटी छोटी उम्रवाले सिविलियन होते देखे जाते हैं तब श्रीमद् राजचंद्रमें और क्या विशेषता है? इसका उत्तर यह है कि छोटी उम्रमें विद्याभ्यास करके ज्ञान प्राप्त करना जुदी बात है और बिना अभ्यास किये स्वयं विचार करना जुदी बात है। विद्याभ्यास जब कि अपने पूर्वके विद्वानोंकी कृतिको स्मरणमें रख कर उस पर ध्यान देना मात्र है तब एक छोटेसे विषय पर अपने

स्वतंत्र विचार स्थिर करना बड़ा ही गहन है। एक बहुत ऊँची सीमा तक विद्याध्ययन करनेके लिए जितनी शक्तिकी आवश्यकता है उसकी अपेक्षा किसी छोटेसे विषय पर भी स्वतंत्र विचार करनेके लिए बहुत अधिक शक्तिकी आवश्यकता है। जब कि सिविलियन होना दूसरे विद्वानोंके विचारोंको मात्र स्मरणमें रखनेके बराबर है तब दूसरे धर्म-स्थापकोंने अपने अपने धर्मोंकी स्थापना कैसे की इस विषयका शोध करनेके लिए अपनी स्वतंत्र विचार-शक्तिकी आवश्यकता है। इसके सिवाय जहाँ सिविलियन होनेवालेको शिक्षाके प्रारंभसे लेकर शिक्षाकी समाप्ति पर्यन्त उन्नत विचार-वातावरणका समागम मिलता रहता है वहाँ तीस वर्ष पहले काठियावाड़में गुजराती भाषाकी पाठशालाओंके स्थापनाका आरंभ ही था और एक तेरह वर्षके बालकने अपने छोटेसे गाँवको छोड़ कर बाहर कहीं पाव भी नहीं दिया था; तथा गुजरातीकी सातवीं पुस्तकके सिवाय कुछ पढ़ा-लिखा नहीं था। श्रीमद् राजचन्द्रने जब 'भावनाबोध' और 'मोक्षमाला' लिखी तब उनकी उम्र सोलह या सत्रह वर्षकी थी। तब क्या यह कहा जा सकता है कि तीन चार ही वर्षोंमें उन्होंने इतना अधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया कि जिससे वे जैन और जैनेतर दर्शनोंका इतना गहरा अध्ययन कर उनकी तुलना कर सकें और उसे लिख कर दूसरोंको समझा सकें। इन चार वर्षोंके मध्यमें उनने किसी ऐसे मनुष्यके पास भी अध्ययन नहीं किया था जिससे कि उनमें इस प्रकारके गंभीर तत्त्व-ज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थोंके लिखनेकी शक्ति आ जाती। हाँ, मात्र इतना सच है कि उन्होंने जैन तथा जैनेतर दर्शनोंका स्वतंत्र अध्ययन कर अनुभव प्राप्त किया था; और यही कारण है कि उनमें ग्रन्थ लिखनेकी शक्ति थी।

तब देखना यह चाहिए कि इसका परिणाम क्या हुआ। यह बतलाया जा चुका है कि श्रीमद् राजचंद्रकी सत्रह और उन्नीस वर्षकी उम्रमें अधिक प्रसिद्धि हुई और वे एक असाधारण शक्तिशाली पुरुष समझे गये। श्रीमद् राजचंद्रने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा नहीं पढ़ी थी; परन्तु जब उन्होंने इन भाषाओंकी पुस्तकोंको देखना आरंभ किया तब सहज ही उन्हें अपनी असाधारण शक्तिकी सहायतासे इन दोनों भाषाओंका साधारण अच्छा ज्ञान हो गया। इससे फिर उन्होंने जिन दर्शनोंका अध्ययन किया उनके तत्त्वोंको सहज ही समझ लिया; और अपनी असाधारण विचार-शक्तिके द्वारा उनके सम्बन्धमें अपने विचारोंको स्थिर किया। किसी प्रकारकी दूसरेकी सहायता या उन्नत विचार-वातावरणके समागमके बिना इस प्रकारके तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी विचारोंको लिखनेकी मात्र तीन वर्षोंमें ऐसी शक्तिका प्राप्त होना क्या इस जन्ममें प्राप्त की हुई शक्तिका परिणाम कहा जा सकता है? पश्चिमकी दृष्टिसे ऐसे पुरुषोंको नूतन शक्त्युत्पादक (Genius) कहना चाहिए और पूर्वकी दृष्टिसे कहना चाहिए कि उनकी वह शक्ति पूर्व-जन्मके संस्कारका फल थी। यह नहीं था कि राजचन्द्रमें यह शक्ति तेरह वर्षकी उम्रमें देख पड़ी हो; किन्तु बालपनमें ही इसके आसार उनमें देख पड़ते थे। जब श्रीमद् राजचंद्र ग्यारह वर्षके थे तब मोरवीके वर्तमान माननीय महाराज ठाकुर साहब एक बार ववाणिया आये और पाठशालाके विद्यार्थियोंकी उनने परीक्षा ली। उस समय पाठशालामें एक छोटीसी छात्र-वृत्ति नियत की जानेवाली थी और उसके लिए अध्यापकने एक लड़केके लिए शिफारस की थी जो कि श्रीमद् राजचंद्रके साथ एक ही श्रेणीमें पढ़ता था। परन्तु परीक्षा लिये बाद माननीय

महाराजने 'सम्मति-पुस्तक'में लिखा कि "पाठशालाके अध्यापक महाशयने एक दूसरे लड़केके लिए छात्र-वृत्ति देनेकी सूचना की है; परन्तु हमें राजचंद्र सबसे अधिक हुशियार और चालाक जान पड़ता है, इस लिए आज्ञा दी जाती है कि वह छात्र-वृत्ति राजचंद्रको दी जावे।" श्रीमद् राजचंद्रने स्वयं भी इस शक्तिको पुनर्जन्मका संस्कार बतलाया है। उन्होंने अपने विषयमें एक लेखमें लिखा है:—

लघुवयथी अद्भुत थयो, तत्वज्ञाननो बोध।
एज सूचवे एमके, गति आगति काँ शोध॥
जे संस्कार थवा घटे, अति अभ्यासे काँइ।
विना परिश्रम ते थया, भव शंका शी त्याँय?॥

अर्थात्—छोटी उम्रमें जो इतना अद्भुत तत्त्व-ज्ञान हो गया वही इस बातको सूचित करता है कि (जीवका) आवा-गमन होता है, फिर उसमें शोध क्या करना। जो संस्कार बहुत अभ्यास करनेसे होते हैं वे विना परिश्रम किये ही हो गये तब फिर भव-धारणमें शंका ही क्या रह जाती है?

यह बात कुछ विस्तारके साथ लिखना पड़ी है; परन्तु ऐसा करनेके सिवाय गत्यन्तर नहीं था। यदि सिर्फ इतना ही कह दिया जाता कि श्रीमद् राजचंद्रमें अमुक प्रकारकी असाधारण शक्ति थी तो पाठक इसका अर्थ यह कर सकते थे कि राजचंद्रकी प्रशंसा करनेवालोंने उनकी तारीफमें अतिशयोक्ति की है। परंतु यदि यह बताया जाय कि वे असाधारण शक्तियाँ अमुक प्रकारकी थीं तो उससे उन पर प्रतीति होगी और इस

प्रतीतिसे यह ज्ञान हो जायगा कि आत्माका अस्तित्व त्रिकाल नित्य है। अर्थात् इस बात पर विश्वास करनेके लिए एक प्रबल प्रमाण मिल जाता है कि पुनर्जन्म है।

जन्म-वैराग्य।

श्रीमद् राजचंद्रके लेखोंका संग्रह जब तक नहीं छपा था उसके पहले प्रोफेसर ठाकुरने इन लेखोंको इस लिए पढ़ा था कि वे अँगरेजीमें उनका एक जीवन-चरित्र लिखें। उस समय उन्होंने एक सज्जनको लिखा था कि "श्रीमद् राजचंद्र जन्मसे ही वैरागी थे"। प्रोफेसर महाशयके इस कथनके अनुसार वे जन्म-वैरागी थे या नहीं, इस बातकी वास्तविकता तो वे ही लोग जान सकते हैं जिन्हें श्रीमद् राजचंद्रका अधिक परिचय रहा है। परंतु प्रोफेसर महाशयके पत्रकी सत्यता सिद्ध करने लिए श्रीमद् राजचंद्रके जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्तके विचारोंका अवलोकन करना पर्याप्त होगा। यहाँ पर भी ऐसे एक-दो प्रकरणोंका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है कि जिससे पाठकोंको भी इस विषयका साधारण आभास हो जाये।

राजचंद्रने भावनाबोधकी प्रस्तावनाका पहला वाक्य यों लिखा है कि "चाहे जैसे तुच्छ विषयोंमें फँसे रहने पर भी उज्ज्वल—शुद्ध—आत्माके स्वाभाविक वेगका झुकाव वैराग्यकी ओर ही होता है।" अब देखना यह है कि निर्जीव विषयोंमें प्रवृत्ति होने पर भी श्रीमद् राजचंद्रका वैराग्यकी ओर झुकाव था या नहीं। वे जब अवधान करते और अवधानके समयमें ही उन्हें किसी भी विषय पर शीघ्र कविता कर देनेके लिए कह दिया जाता तब वे उसी समय उस विषय पर कविता कर दिया कर देते थे। जब वे सोलह वर्षके थे तब ऐसे ही एक प्रसंग पर उन्हें 'आकाश-पुष्प थकि

वंध्य-सुता वधावी' इस पदकी समस्या पूर्ति करनेके लिए कहा गया। श्रीमद् राजचंद्रने उसी समय इस पदकी पूर्त्ति यों की—

संसारमां मन अरे क्यम मोह पामे ?
वैराग्यमां झट पड्ये गति एज जामे।
माया अहो गणि लहे दिल आप आवी,
आकाश-पुष्प थकि वन्ध्यसुता वधावी ॥

अर्थात्–हे मन, तू संसारमें किस लिए मोह करता है ? जरा विचार कर देख तो तुझे जान पड़ेगा कि यह माया आकाश-पुष्पों द्वारा वंध्या स्त्रीकी पुत्रीको वधानेकी जैसी कल्पना है–कुछ वस्तु नहीं हैं–झूठी है। और वैराग्यमें लगनेसे तुझे इस बातकी और भी अधिक दृढ़ प्रतीति हो सकेगी।

इसी प्रकार एक दूसरे प्रसंग पर 'कंकर' को लक्ष्य करके कविता बनानेके लिए उनसे कहा गया। उन्होंने तब यह दोहा बनाया—

एम सूचवे कांकरो, दिल खोलीने देख।
मनखा केरा मुजसमा, विना धर्मथी लेख ॥

अर्थात्—कंकर यह बात सूचित करता है कि मन खोल कर देखो, वे मनुष्य मेरे सदृश हैं जो धर्म-रहित हैं। अन्य एक प्रसंग पर उन्होंने 'रंगनी पिचकारी' इस वाक्य पर शीघ्रताके साथ कविता की थी—

बनावी छे केवी सुघड़ पिचकारी सुचवती,
बधी जूठी माया मनन कर एवूं मनवती।

नथी सारी मारी चटक सउ शिक्षा कथनमां,
उरे धारी जो जो विनय अरजी आ मथनमां ॥

अर्थात्—यह सुन्दर पिचकारी सूचित करती है कि मनमें सोचो—समझो—तो जान पड़ेगा कि मेरी सब माया, सब चटक-मटक झूठी है। मेरी विनय-पूर्वक यह प्रार्थना है कि हृदयमें विचार कर देखो तो तुम्हें सब शिक्षाओंका सार भी यही जान पड़ेगा।

उक्त कवितायें प्रायः वैराग्य पर ही लिखी गई हैं। पर इससे सर्वथा यह न समझना चाहिए कि वैराग्य-विषय पर कविता करनेवाला मनुष्य वैरागी ही होता है। बहुतसे ऐसे कवि भी हुए हैं जो स्वयं शृंगारको अधिक पसन्द करने पर भी वैराग्य पर कविता करते थे। परंतु सूक्ष्म-दृष्टिसे देखने पर इतना तो अवश्य जान पड़ेगा कि कविका जो खास प्यारा विषय होता है उसकी कुछ-न-कुछ बातें दृष्टान्त वगैरहमें आये विना नहीं रहती। इसी लिए यह कहा गया है कि श्रीमद् राजचंद्र जन्म-वैरागी थे। ज़रा विचार करनेसे पाठक भी इस बात पर विश्वास कर सकेंगे। पाठकोंको जानना चाहिए कि अवधान करते समय जब उनसे कविता या पादपूर्ति करनेके लिए कहा जाता तब उसी समय—विना कुछ विलम्ब किये—उन्हें कविता कर देनी पड़ती थी। मतलब यह कि उस समय उन्हें विचारके लिए कुछ भी समय न मिलता था। ऐसे प्रसंगों पर जो एक साधारण वस्तुको लेकर कविता लिखनेका उदाहरण दिया गया है उस परसे यह सहज ही विचार उठता है कि वे कवितायें वैराग्य पर ही क्यों की गईं, शृंगार या अन्य किसी विषय पर क्यों न की गईं? मनुष्यकी वृत्तिकी परीक्षा करनेका 'कुमारपाल-प्रबन्ध' में

एक दृष्टान्त दिया गया है। वही दृष्टान्त श्रीमद् राजचंद्रकी वैराग्य-वृत्तिका निश्चय करनेके लिए भी बहुत उपयोगी है। वह दृष्टान्त यह है—

"जब यह बात सिद्ध करनेके लिए झगड़ा उठा कि भिन्न भिन्न धर्मोंके उपदेशकोंमें अहिंसाको वास्तविक पुष्ट करनेवाले कौन हैं तब इस बातका न्याय करानेके लिए लोग राजसभामें आये। उस समय राजाने उन सबकी परीक्षा करनेके लिए उनसे एक समस्या कह सुनाई। वह समस्या यह थी—

"पुरो भमंतीइवि अंगणाए सकज्जलं दिट्ठिजुयं नव त्ति"

इस पर भिन्न भिन्न उपदेशकोंने भिन्न भिन्न प्रकारकी कवितायें कीं। किसीने यह भाव बतलाया कि "हमारी दृष्टि स्त्रीके दूसरे अवयवों पर थी, इस कारण उसकी काजलवाली आँखोंको हम न देख सके।" दूसरे किसीने किसी अन्य अवयव पर दृष्टि रहनेको उन आँखोंके न देखे जानेका कारण बतलाया। आखिरमें जैन साधुने जो उसकी पूर्त्ति की उसका यह भाव था—"हमारा मन त्रस तथा स्थावर जीवोंकी रक्षामें तत्पर था, हमारी दृष्टि ईर्यासमितिके पालनमें लगी हुई थी, इस कारण काजल लगी हुई आँखोंको हम देख नहीं सके।" यह सुन कर राजाने अपने फैसलेमें कहा— "वास्तवमें अहिंसाके पुष्ट करनेवाले जैनसाधु ही हैं।" इस दृष्टान्तसे सिद्ध यह करनेका है कि जिसका लक्ष्य जिस विषयकी ओर होता है उसके मुँहसे स्वाभाविक वैसे ही उद्गार निकलते हैं। इसी प्रकार श्रीमद् राजचंद्रने भी 'कंकर' 'रंगकी-पिचकारी' आदि विषयों पर अवधानके समय शीघ्र कविता करते हुए अपनी स्वाभाविक वृत्तिको वैराग्यकी ओर झुकती हुई बतलाई है। जिनने विज्ञानका

अभ्यास किया है वे जानते होंगे कि मन जिस विषयमें लगा रहता है वह विषय वातोंमें आये विना नहीं रहता। विज्ञानके इस सिद्धान्तको यदि स्वीकार किया जाय—और वह अनुभवसे स्वीकार करना पड़ेगा—तो यह मान लेना पड़ेगा कि श्रीमद् राजचंद्रका मन भी वैराग्यमें लग रहा था और इसी लिए उनके अन्तरंगमें जो वैराग्य समा रहा था वह मात्र भाषाके आकारमें बाहर आया था।

श्रीमद् राजचंद्रने अपने जीवन-संबन्धी वृत्तान्तको लिखते हुए एक कवितामें लिखा है —

ओगणिससें ने वेतालीसे अद्भुत वैराग्य धार रे;

अर्थात् १९४२ में उनमें वैराग्यकी धारा वहती थी। इसी वातकी पुष्टि इसी वर्ष लिखे हुए 'भावनावोध'से भी होती है। उसका एक पद्य यहाँ उद्धृत किया जाता है।

ना मारां तन-रूप-कान्ति-युवती, ना पुत्रके भ्रात ना;
ना मारां भृत स्नेहिओ स्वजनके ना गोत्रके ज्ञात ना।
ना मारां धन-धाम-यौवन-धरा, ए मोह अज्ञत्वना;
रे रे जीव विचार एम ज सदा, अन्यत्वदा भावना ॥

ये सव वातें साधारणतया श्रीमद् राजचंद्रकी वीस वर्षकी उम्रके भीतरकी हैं।

अव इस विषय पर विचार किया जाता है कि सर चार्ल्स सारजंटने श्रीमद् राजचंद्रसे विलायत चलनेके लिए आग्रह किया था और वह उन्हें पसन्द नहीं पड़ा। इसके वाद उनका जीवन किस प्रकार वीता। उस समय

राजचंद्रकी अवस्था उन्नीस वर्षकी थी । उनका ब्याह इसी वर्ष हुआ था। और इसी कारण फिर उन्हें अपनी जन्मभूमि ववाणियामें रुक जाना पड़ा था। इसके बाद लगभग १९४५ में राजचंद्र बम्बई आये । इस समय उनकी वृत्तिमें एकदम परिवर्तन देख पड़ा । छोटीसी अवस्थामें जो असाधारण, आश्चर्य-पूर्ण शक्तियोंके धारक समझे गये, अनेक बड़ी बड़ी सभाओंमें जिन्हें मान मिला और बड़े बड़े प्रतिष्ठित पुरुषोंसे जिनका परिचय हुआ उनके विचारोंमें सहसा एक बड़ा भारी परिवर्तन हो गया । अबसे उनने निश्चय कर लिया कि जहाँ तक बन पड़ेगा किसी मनुष्यसे मैं न मिलूँगा; शतावधानके प्रयोग न करूँगा; और न कोई पुस्तक वगैरह लिख कर उसे प्रकाशित करूँगा । उनके इस परिवर्तनको देख कर यह कहना अनुचित न होगा कि वे एक प्रकारसे जन-समागमसे अन्तर्हित ही हो गये । इस प्रकार एकाएक उन्होंने जन-समागमसे अन्तर्हित होनेका क्यों विचार किया, इसके लिए पहले एक जगह उनके सामान्य मनोरथोंका उल्लेख किया गया है । इस लिए बहुत संभव है कि उनकी इच्छा अपने उन मनोरथोंके पूर्ण करनेकी हो गई हो । और उनके सारे जीवनकी घटनाओंके पढ़नेसे तो यह बात और भी दृढ़ हो जाती है । यदि उनके मनोरथोंका पृथक्करण करके देखा जाय तो जान पड़ेगा कि उनकी प्रबल इच्छा स्व-परके हित साधन करनेकी थी । परन्तु साथ ही उनकी यह धारणा थी कि जब तक स्वात्म-हित साधन न किया जाय तब तक परहित-साधनकी ओर ध्यान देना अपना और परका अहित करना है । और स्वात्म-हित साधनके बाद परहितके लिए प्रयत्न करना भी सब साधनोंके ठीक ठीक मिल जाने पर ही होता है । यही कारण है कि उन्हें जन-समागमसे अलग रहना उचित जान पड़ा ।

यह जान पड़ता है कि स्व-पर-हितके लिए ही उन्होंने यह योजना की होगी। 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रन्थके देखनेसे जान पड़ता है कि उनकी आन्तरङ्गिक इच्छा सदा यह रहती थी कि वे परिग्रहको छोड़ें। स्वर्गीय प्रसिद्ध वेदान्ती श्रीयुत मनसुखराम सूर्यराम त्रिपाठीके साथ जो उनका पत्रव्यवहार हुआ था उसमें सं० १९४५ श्रावण वदी ३ के एक पत्रमें उन्होंने लिखा था कि "सब शास्त्रोंके उपदेशका, क्रियाका, ज्ञानका, योगका तथा भाषाओंकी जानकारीका प्रयोजन अपने स्वरूपके लाभके लिए है; और ये सब बातें आत्मामें लीन होकर की जाये तभी अपने स्वरूपकी प्राप्ति होना संभव है। परन्तु इन बातोंके प्राप्त करनेके लिए सबसे पहले सर्व-संग—परिग्रह—के त्यागकी आवश्यकता है। सहज-समाधिकी प्राप्ति केवल निर्जन स्थान या योग-धारणसे नहीं हो सकती; किन्तु सर्व-संगके परित्याग करनेसे ही संभव है। एक-देश-संगका त्याग भी किया जाता है, पर उससे उसकी प्राप्ति अनिश्चित है—हो भी और न भी हो। जब तक पूर्व कर्मोंके उदयसे गृह-वास भोगना बाकी है तब तक धर्म, अर्थ और कामका सेवन करना चाहिए; परन्तु वह इस तरह कि विषय-भोगोंके प्रति दिनोदिन उदासीनता बढ़ती ही चली जाये। बाह्यमें गृहस्थ होने पर भी अन्तरंगमें निर्ग्रंथ होना चाहिए; *और जहाँ ऐसा होता है वहीं सब सिद्धियाँ रहती हैं।

---

* गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥
—रत्नकरंड श्रावकाचार।

अर्थात् वह गृहस्थ मोक्षमार्गी है जो कि निर्मोही है; किन्तु मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं हो सकता। अतएव उस मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।

"कई महीनोंसे मेरी इच्छा निर्ग्रन्थताकी ओर झुक रही है; परन्तु कितनी ही सांसारिक उपाधियोंके कारण वह अभिलाषा पूरी होती नहीं जान पड़ती । तब भी यह तो निश्चित है कि उसके प्रत्यक्ष लाभसे सत्पद्—मोक्ष—की प्राप्ति—आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति—होती है । और उसके लिए उम्र या वेशकी कोई विशेष अपेक्षा नहीं रहती ।"

'श्रीमद् राजचंद्र'के सम्पूर्ण पढ़ जानेसे जान पड़ेगा कि उनकी आन्तरङ्गिक इच्छा तो संसार-परिग्रहके त्याग करनेकी ही थी; परन्तु संसार-परित्याग करना उन्होंने तब ही उचित समझा था जब कि उनका वह त्याग लोकोपकारार्थ हो सके । उनकी इन वास्तविक भावनाओंका ठीक ठीक पता तब ही चल सकता है जब उनके विचारोंका चिर समय तक पृथक्करण किया जाये । उनका ऐसा विश्वास हो गया था कि जो आज जैनधर्ममें नाना पंथ-भेद हो गये हैं उन सब भेदोंको दूर करके धर्मका पुनरुद्धार अथवा दिग्विजय किया जाये तब ही जैनधर्मकी दशा सुधर सकेगी ।' परन्तु यह पुनरुद्धार या दिग्विजय त्यागी बननेसे ही हो सकेगा । और इस त्याग-दशाके द्वारा संसार भी लाभ उठा सके, इस लिए उसे तब धारण करना चाहिए जब कि संसार पर उसका सिक्का जम सके । और यह सिक्का संसार पर तब ही जम सकता है जब कि अपने हाथों कमायी हुई धन-दौलत और सांसारिक सुख आदिका त्याग किया जाये, और अपनेमें असाधारण ज्ञान-शक्ति हो । जो पुरुष सब प्रकारके सांसारिक सुखोंके होते हुए उनका त्याग करता है उसीके उपदेशका संसार पर सिक्का जम सकता है । धन-दौलत न हो, और कोई प्रकारका सांसारिक सुख भी न हो; परंतु असाधारण ज्ञान-शक्ति होनेके कारण कोई पुरुष संसारका त्याग कर भी दे

तो बहुतों पर उसके उपदेशका कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। कारण लोग समझ लेते हैं कि परिस्थितिसे दुखी होकर बेचारेने संसार और घर-बार छोड़ा है। कितने यह सोच लेते हैं कि बेचारेको संसारका कुछ सुख भोगनेको नहीं मिला इस कारण लाचार हो संसार छोड़ देना पड़ा। जड़वादी समझ लेते हैं कि संसार या सम्पदाका सुख भोगनेको मिले तो कोई संसारका परित्याग नहीं कर सकता। इस लिए जो जो कारण ऐसे हैं कि संसार पर पड़नेवाले अपने उपदेशके प्रभावके बाधक हैं उन सबको दूर करके अपनी आत्म-स्थितिको इतनी उच्चता पर पहुँचा देनी चाहिए कि जिससे लोकोपकारार्थ जो शासनोद्धारका काम उठाया जाय उसमें बुद्धिको रत्तीभर भी अभिमान न हो। ऐसी अवस्था होने पर ही त्यागी बनना या त्याग-दशा धारण करना सार्थक है।

इस प्रकार कई कारणोंसे उन्होंने इक्कीस वर्षकी उम्रमें, प्रसिद्धिके प्राप्त जितने साधन थे उन सबसे सम्बन्ध तोड़ दिया और अबसे वे व्यापारकी ओर झुक गये। इसके बाद लगभग कोई दस वर्ष पर्यन्त उन्होंने जवाहरातका धंदा किया। वे व्यापारमें कितने कुशल थे यह बात उन लोगोंसे तलाश की जाय कि जिनका उनके साथ व्यापारका अधिक सम्बन्ध रहा है, तो बहुत विश्वास है कि वे श्रीमद् राजचंद्रके विषयमें बहुत श्रेष्ठ विचार प्रकट करेंगे।

श्रीमद् राजचंद्र एक ओर तो बड़ा भारी व्यापार हाथमें लिये हुए थे और दूसरी ओर तत्त्व-ज्ञान तथा अध्यात्म-सम्बन्धी असाधारण प्रयत्न कर रहे थे। यह नहीं जान पड़ता कि यह बात किस तरह पाठकोंको समझाई जाय; परन्तु इतना तो सच है कि यदि उनके विस्तृत व्यापारकी

बहियाँ देखी जावें तो कई बातें सहज ही समझमें आ सकती हैं । इसके सिवाय दूसरा उपाय यह है कि उनके विचारोंके संग्रहका—जो कि 'श्रीमद् राजचंद्र'के नामसे प्रकाशित हो चुका है—सूक्ष्म-दृष्टिसे अवलोकन किया जाये ।

उसमेंसे कुछ पत्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं । इन परसे पाठक जान सकेंगे कि श्रीमद् राजचंद्र व्यापारिक विषयोंमें कितनी कुशलताके साथ काम-काज करते थे । साथ ही उन्हें इस बातका भी ज्ञान हो जायगा कि श्रीमद् राजचंद्र जवाहरातके जैसे बड़े व्यापारमें जिस भाँति मन गड़ा कर काम करते थे उसी भाँति छोटे–साधारण–व्यापारमें भी खूब उपयोग देते थे । कर्त्तव्यकी दृष्टिसे थोड़े और बहुत लाभवाले सभी व्यापार-धंदे उनके लिए एकसा महत्त्व रखते थे । और यही कारण है कि उनकी इस दृष्टिने उन्हें बहुत कुछ सफलताके द्वार पर पहुँचा दिया था । वे पत्र ये हैं—

१

"यहाँ मैं कल आया हूँ । तुम्हारा पत्र मिल गया । पढ़ कर सब हाल ज्ञात किये । संघवी घेला वालजीका कपड़े संबंधी कोई काम-काज तुम्हारे पास आवे तो उसे बराबर तलाश करके करना । उन्हें अवकाश हो तो अपने साथ लेजा कर खरीद करना । रेशमी ओढ़नी वगैरह वे मँगावें तो उनका पना पोत, रंग तथा अच्छा बंधेज देख कर खरीदना । यह माल भीमजी वल्लभजीके यहाँका अच्छा होता है; परन्तु दूसरी जगहसे इनके यहाँ कुछ दाम अधिक लगते हैं । भोंयतलेके नाके पर एक खत्री बैठता है । उसके यहाँसे कई बार हम माल खरीद भी चुके हैं ।

वह कुछ कम दाम लेता है। इस लिए यदि उसके यहाँ भीमजी वल्लजीके जैसा ही माल मिले तो अच्छी तरह देख-भाल कर खरीद करना। और भीमजी वल्लभजीका तथा उस खत्रीका एक ही भाव हो तो जिसके यहाँ अच्छा माल मिले उसके यहाँसे लेना। यह बात ध्यानमें रखना कि ग्राहक लोग ओढ़नियों पर आना दो-आना भी ज्यादा देनेमें हिचकिचाने लगते हैं।

रेशमी साटनके थान वे मँगावें तो उनका रंग, उनकी चमक, मुलायमता आदि अच्छी होगी तो ही वे उनके वहाँ चल सकेंगे। वे १२ डीके मार्केके हों। अथवा वस्त्र पर रुपया ज्यादा भी लगे तो उसकी परवा न करना, पर अच्छे मार्केके देख कर खरीदना।

वीस या इक्कीस तक जो भाव उन्होंने लिखा हो उसी अन्दाजके खरीदना। रेशमी अतलश कुछ रँगाना हो तो भाई अमृतलाल जहाँ कहे वहीं रँगाना। उस पर रंग, आदि ठीक आवे वैसा करना। संघवी घेला बालजीने मुझसे कहा कि हमें बम्बईसे कपड़ा मँगवाना है और तुम तो वहाँ नहीं हो, इस लिए संभव है माल ठीक समय पर न आ सके। इसके उत्तरमें मैंने उनसे कह दिया है कि मेरे न रहने पर भी आपको माल मँगानेमें कोई अड़चन न होगी। वहाँ मेरी अपेक्षा भी अच्छा काम हो सकेगा। भाई अमृतलालके भरोसे पर यह उत्तर दिया गया है। इस कारण अमृतलालको साथ लेजा कर माल खरीद करना। काम वैसा ही करना जिससे मँगानेवालेको सन्तोष हो सके। एक छोटीसी बातके लिए जो इतना लिखा है इसका कारण यह है कि रेशमी कपड़ेमें जरा भी ज्यादा-कम हो तो उससे माल मँगाने-

वालेके मनमें बहुत दुःख होता है ।' इसके सिवाय माल अच्छा तथा ठीक भावसे न खरीदा गया तो उसका परिणाम यह होगा कि मैंने जो उनसे कहा था कि आपका काम-काज बराबर होगा, समय पर वह झूठ भी ठहर सके । मोतियोंकी जो विगत लिखी वह ठीक है ।

दूकानके कामकाजमें कुछ आकुलता जान पड़े तो धीरजके साथ भाई अमृतलाल आदिकी सहायतासे काम करना ।"

२

"आज पत्र मिला । जर्मनकी पारसल वापिस आनेके बाबत लिखा वह ज्ञात हुआ । सँभाल कर उसका रुपया तुरंत भर देना । जर्मनने जो २९२८ पौंडकी हुंडी की है उस परसे ज्ञात होता है कि उसने रिटर्न कमीशन एक टकेके भावसे लगाया है, पर वह पहले इस कमीशनके न लेनेके लिए हमें लिख चुका है । उसका वह पत्र फाईलमें है । सो आप बनाजी वगैरहसे सलाह लेना कि यह अट्ठाईस पौंड कम भरा जा सकेगा या नहीं । और शायद उसका एजन्ट मोहनलाल मगनलाल यह कहे कि जितनेकी हुंडी उस पर की गई है उसकी एक टकेके हिसाबसे वह आढ़त लेता है; परन्तु ऐसी दशामें आढ़त देनेका अपना ठहराव नहीं है । माल बेचा जाता तो आढ़त दी जाती । इस विषयमें जेठाशासे भी पूछना । आप तथा नगीनभाई इस बातकी पूरी तजवीज करना । जल्दी जल्दीमें यदि ये अट्ठाईस पौंड भर दिये गये तो फिर बड़ी झंझट होगी । कल दिन सब खुलासा लिखूँगा ।"

३

"तुम्हारा पत्र कल मिला। उसमें नं० १७७ के वेंचान तथा ता० २४-१-८२ वगैरहकी जो खरीदी लिखी वह पढ़ी। तथा सीरी (एक जातिके छोटे मोती) और भूके (सीरी जातिके मोतियोंसे भी छोटे मोती) की जो खरीदी लिखी वह भी पढ़ी। परन्तु तुमने यह ठीक नहीं लिखा कि वह सीरी-भूका अरवस्थानके किस व्यापारीका तथा किस प्रान्तका है। इस कारण इस विषयमें अधिक लिखना कठिन है। परन्तु इतना अनुमान किया जा सकता है गत वर्षकी भाँति सुरा (एक प्रकारके मोती) का १५-१६-१७-१८-१९ का भाव कहीं पढ़नेमें नहीं आया। ऐसे ऊँचे भावकी खरीदी पर विलायतवालोंसे उसके पूरे दाम लेनेमें वड़ी कठिनता पड़ेगी। यह संभव है कि मौके पर भूकेमें लाभ हो, पर सीरीके लिए तो सन्देह है। इसके सिवाय इस समय हुंडीका भाव भी कुछ वढ़ गया है। गत वर्षकी अपेक्षा सीरी अच्छी हो तो भी दस-पन्द्रह टके चढ़ने उतरने पर तो मुद्दल दामोंके ही उठनेकी आशा है। कितनी वार आगेके परिणाम पर विना विचार किये ही प्रायः खरीदी करली जाती है। किसी मालमें विलायतके हिसावसे ठीक पड़ती पड़ जाती है और इसी कारण फिर दूसरे मालमें भी ऊँचे दामोंके आनेकी आशासे भाव वढ़ा कर माल खरीदा जाती है। और इस तरह सदा ऊँचे भाव पर ही ध्यान रहता है। इससे डर वना रहता है कि इस रीति-से तो मौके पर गत वर्षकी भाँति इस चर्षका भी व्यापार केवल वेगार करनेके जैसा होगा।

यहाँ वैठे रह कर कुछ लिखना योग्य नहीं जान पड़ता। अव शीघ्र ही आनेका विचार है, इस लिए अधिक लिखनेका कोई कारण भी नहीं है।

बात यह है कि जहाँ जरा ही कष्ट हुआ कि लोग कितने ही लाभके व्यापारोंको भी धूलमें मिला देते हैं । इस पर उनका ध्यान न जाय तब क्या भी क्या जाये ? कुछ भी विचार, धीरज और सिलसिलेसे काम किया जाय तो उसमें लाभ ही होता है; परन्तु सबके ऐसे एकरूप परिणाम नहीं हैं और मुख्य काम-काज करनेवालेका हेतु भी वैसा नहीं है। और इसी प्रकार सबको सँभल कर चलनेके लिए कहा जाय तो वे मानेंगे नहीं। तब ऐसे मौकों पर फिर विचार कर चलनेके लिए बाध्य होना पडता है। और यह बात सबको रुचना कठिन है। यह कोई व्यापार न करनेकी बात नही है; किन्तु व्यापार एक अच्छे रूपमें आ जाय इसके लिए प्रयत्न है।

बहुधा करके कँवार सुदी १० को बम्बई आनेका विचार है। यह पत्र एक दूसरेके मनको दुखाने अथवा चलते हुए काममें रोड़ा अटकानेके अभिप्रायसे नहीं लिखा है । परन्तु इस परसे हम सब व्यापारमें उपयोग रक्खेंगे तो यह मार्ग अन्तमें लाभकारक ही होगा। बहुत तेजीमें रहने या बहुत ऊँचे भाव पर खरीदी करनेका परिणाम प्रायः विषम ही होता है, उससे कदाचित् ही लाभ होता है। और इसके सिवाय यदि स्वाभाविक बजारकी रुख पर काम किया जाय तो वह काम सदाके लिए एक मजबूत पाये पर चल सकता है। हम लोगोंमें जो यह कल्पना रहती है कि धीरज रखनेसे फिर माल नहीं मिलता, एक रीतिसे यह ठीक है; परन्तु इससे उस धीरजको छोड़ देना भी उचित नहीं कि जिससे फिर बिना सोचे-विचारे तेज भावमें भी खरीद करते ही चले जायँ और

अन्तमें एक बड़े गहरे भयके गढ़ेमें उतरना पड़े । मेरी इस बात पर भाई नगीनदासको थोड़ा बहुत ध्यान अवश्य देना चाहिए। कारण एक दूसरेका परस्परका संबंध है । हजार-पाँचसौके नुकसानका विचार कर यह बात नहीं लिखी गई है; परन्तु इस अभिप्रायसे लिखी गई है कि हम सब इस बातको ध्यानमें रख कर काम करेंगे तो हमारा काम बहुत समय तक टिक सकेगा। यह पत्र भाई नगीनदासको पढ़नेके लिए देना और वे कहें तो आप ही पढ़ कर सुना देना, यह प्रार्थना है।"

४

"कल यहाँसे भाई नगीनदासके नामका एक लिफाफा डाला है। वह पहुँचा होगा । उस लिफाफेके भेजनेमें गलती हो गई थी। उसे पढ़ कर आपने वापिस लौटा दिया होता तो अच्छा होता। सीरीका भाव बहुत तेज है। इससे मुझे डर रहता है कि गत वर्षकी तरह इस वर्ष भी केवल बेगार करनेके जैसा न हो अथवा नुकसान उठाना पड़े। इस लिए विचार कर धीरजके साथ काम लेना उचित है । इत्यादिक बातें उस पत्रमें मैंने लिखी थी । यह प्रयत्न इस रीतिसे किया था कि इसका कुछ असर हो; यद्यपि मैं जानता हूँ कि उसके अनुसार चलना भाई नगीनदासके लिए कठिन है । सीरीमें लाभकी जगह नुकसानका मुझे विशेष भय है । कल तुम्हारा भी पत्र मिला । तुम्हारे विचार भी ऐसे ही जान पड़े। मैंने तुम्हारे पत्र आनेके पहले ही पत्र डाकमें डलवा

दिया था । पर तुम्हारी इस सरलताके लिए चित्तमें वहुत सन्तोष हुआ कि तुम्हारे मनमें भी सीरी वगैरहके सम्बन्धके विचार उत्पन्न हुए ।

यहाँसे कँवार सुदी १० को रवाना होकर सुदी ११ के सवेरे वहाँ आनेका विचार है । इसके पहले कुछ माल खरीद करना हो तो वह तुम्हारे विचार पर निर्भर है । जितनी सँभाल तुमसे हो सके उतनी तुम करना । और यदि प्रत्यक्ष नुकसान दिखाई पड़ता हो तो फिर किसी वातमें न पड़ना । मुद्दल दाम उठ सकें या साधारण नुकसानकी संभावना हो और इसके लिए तुम्हारा चित्त भय खाता हो कि एक दूसरेके चित्तमें भेद-भाव न पड़ जाय तो तुम उसे स्वीकार कर लेना । परन्तु जहाँ तक हो सके पहले इनकार ही करना और कहना कि राजचंद्र भाई शीघ्र ही आनेवाले हैं, इस लिए उनके आये विना कुछ खरीदनेका विचार नहीं है । जहाँ तक बन सके ऐसा करनेमें ही लाभ है । इससे आगे चल कर भी लाभ होगा । संबंधके टूट जाने वगैरहकी कल्पनाके भयसे हिस्सेमें शामिल होनेका कोई कारण नहीं है । इतने पर भी इस वातका भार तुम पर इस लिए छोड़ा है कि थोड़ी रकमका मामला हो और काम चलानेके लिए सम्बन्ध रखना उचित जान पड़े तो वैसा करना ।

मुझे अपने वहाँ न रहनेके कारण पहले हीसे भय था कि वे लोग ऊँचे भावमें रहा करेंगे और व्यापारको विना कारण ही वेढंगी स्थितिमें लानेके जैसा करेंगे । कारण उन लोगोंका स्वभाव ही ऐसा है और वर्तमानमें हुआ भी यही है ।”

५*

नीचे लिखे अनुसार जमा-खर्च करना।

६४५४॥=)।१ विगत उधार खाते नामे—
फ्रामजी सन्स कम्पनीकी मार्फत लंदन मे० आरबथना लेथम-कम्पनीको भेजी हुई पार्सलें ता० को वापस आईं, उन पर तीन दिनकी मुद्दतकी ६४५४॥=)।१ की हुंडी आई। उसकी मुद्दत आज पूरी होने पर नेशनल बैंक आफ इण्डियाको ६४५४॥=)।१ भरे।

४८३३॥-)॥ श्रीरंगून व्यापार खाते नामे—
७८≡)। माणिकके २ बंडलकी पारसल नं० ६०९ की विना हुंडीके लंदन भेजी उसके वापिस आने पर जाने-आनेका जो खर्च पड़ा उसकी विगत—
२–८–० पौं० जाने-आनेका वीमा,
०–५–० वापिस आनेका पोष्टेज,
२–८–०, २४० पौंडकी जो वी० पी० की थी उसकी पीछी आनेकी आढ़त १ टकेके भावसे।

५–१०– के १–३–८ भाव ७८≡)।

---

* इस पत्रके उद्धृत करनेका मतलब यह है कि इसका आने पाई आदिका जितना हिसाब है वह सब श्रीमद् राजचन्द्रने विना वहियोंके सहारे, केवल अपनी स्मृति परसे बाहर गाँवसे लिख कर भेजा था।

४७५५१।=)॥२ रंगूनखाते पारसल नं० ६१३-१४ की लंदन भेजी। उसके लिए भाई मनसुखलाल सूरजमलके हिस्सेमें खरीदे हुए मोतियों पर यहाँसे

३०० पौंडकी हुंडी लिखी।

३००- ०-० पौंडकी हुंडी लिखी।

०-१०-८ हुंडीकी मुद्दत पूरी होनेसे १३ दिनका व्याज ५ टकेके भावसे।

१-१३-४ जाने-आनेका वीमा।

१- ३-११ तार खर्च तथा वापिस आनेका पोष्टेज।

३-१०-६ वापिस आनेकी आढ़त १।।) टकेके भावसे हुंडीवाला पारसल होनेसे।

०- ४-० विल स्टाम्पके हिस्सेका खर्च।

रंगून खाते पारसल नं० ६२० में एक मोती लंदन भेजा था। वह मनसुखलाल सूरजमलके हिस्सेमेंका था। उस पर हुंडी नहीं लिखी थी। उसके जाने-आनेके खर्चकी विगत।

०-०-९ पौं० जाने-आनेका वीमा।

०-९-९ ,, तार तथा पोस्टेज।

०-८-० ,, ४० पौंड की वी० पी० की, उसकी आढ़त एक टकेके भावसे।

१-७-८ भाव १-३-८ से १८=)१

१६०२॥।=)॥ तीन भाग खाते नामे—पार्सल नं० ६३५–७ लंडनसे वापिस आई, उसके जो रुपया भरने पड़े उनकी विगत—

१००–०–० पौंडकी यहाँसे हुंडी लिखी।

०–६–१० हुंडीकी मुद्दत पूरी होनेसे २५ दिनका व्याज।

३–३–७ जाने-आनेका खर्च।

०–११–४ जान-आनेका खर्च।

१– ७–२ वापिस आनेका तार तथा पोस्टेज खर्च।

१– ४–० पौंड ८०–०–० की जो वी० पी० वापिस आई उसकी आढ़त १ टकेके भावसे।

०– १–० बिल-स्टाम्पका खर्च।

३– ३–७

१०३–१०–५ के १–३–८ के भावसे

१६०२ ॥।=)॥

कुल पौंड ४१६–१७–३,,

इस प्रकार श्रीमद् राजचंद्रने वड़े साहसके साथ कई वर्ष पर्यन्त व्यापार किया। उस समय उनकी व्यापार और व्यवहार-कुशलता इतनी श्रेष्ठ थी कि वे कई विलायती व्यापारियोंके साथ काम-काज करते थे। उनकी काम करनेकी पद्धतिको देख कर विलायती व्यापारी भारतीय लोगोंकी योग्यताकी वड़ी प्रशंसा करते थे। श्रीमद् राजचंद्रकी दूकानमें और भी भागीदार थे; परन्तु उसे उन्नति पर पहुँचानेके मूल कारण श्रीमद् राजचंद्र ही थे। उस दूकानके व्यापारकी मूल कुंजी उन्हींके हाथमें थी।

अव उनके आध्यात्मिक विचार सुनिए। सं० १९५० असाढ़ सुदी पूनमके एक पत्रमें उन्होंने लिखा था—

"इस समय यहाँ पर व्यापारका काम-काज वहुत रहता है, इस लिए थोड़े समयके लिए भी सहसा छुटकारा पाना वहुत कठिन है। मौका भी ऐसा है और साझीदारोंको मेरी यहाँ पर मौजूदगी वहुत ही आवश्यक जान पड़ती है। हाँ, मेरी इच्छा होती है कि मैं थोड़े समयके लिए काम-काजसे छुट्टी लूँ; परन्तु ऐसा तव कर सकता हूँ जव कि मेरे साझीदारोंके मनमें कोई प्रकारकी दुबधा न हो और मेरे यहाँ न रहने पर उनकी कोई विशेष हानि न हो।" इससे जान पड़ता है कि श्रीमद् राजचंद्र एक अच्छे कुशल व्यापारी थे और उनके पीछे व्यावहारिक वड़ा भारी जंजाल था। परन्तु आश्चर्य है कि ऐसी हालतमें भी उनके अन्तरंगमें आत्म-चिन्तनके सिवाय कुछ न था। इस प्रकार उनका जीवन नाना उपाधियोंसे पूर्ण होने पर भी उनका लक्ष्य-विन्दू कहाँ था, यह वात उनके उस पत्रसे जान पड़ती है जिसे उन्होंने एक आत्मार्थी सज्जनको लिखा था। वह पत्र नीचे उद्धृत किया जाता है।

“अनन्त कालसे अपने स्वरूपकी जो विस्मृति हो गई है उससे जीवके लिए पर-भावका ग्रहण एक बहुत ही साधारण बात हो रही है। सत्संग-पूर्वक ज्ञानका अभ्यास करनेसे वह आत्म-विस्मृति दूर की जा सकती है। अर्थात् पर-भावोंमें उदासीनता आ सकती है। यह काल विषम है, इस कारण आत्म-स्वरूपकी तन्मयता लाभ करना कठिन है; परन्तु यदि अधिक समयके लिए सत्संग किया जाय तो निश्चित है कि उससे वह तन्मयता प्राप्त हो सकती है। जीवन बहुत थोड़ा है और झगड़े बहुत हैं, धन परिमित है और तृष्णा अनन्त है। ऐसी हालतमें आत्म-स्वरूपका स्मरण असंभव है; परन्तु जहाँ झगड़े थोड़े हैं; जीवन प्रमाद-रहित है और तृष्णा अत्यल्प है या बिलकुल नहीं है अथवा सब सिद्धियाँ प्राप्त हैं वहाँ आत्म-स्मृति पूर्णपने प्राप्त की जा सकती है। अमूल्य ज्ञान-जीवन माया-मोहके प्रपंचमें बहा जा रहा है। उदय बड़ा बलवान् है।”

वे स्वयं व्यापारका काम-काज करते; परन्तु उस ओर उनकी भावना कैसी रहती थी, यह बात उनके दो-तीन पत्रों परसे अच्छी तरह ज्ञात हो सकती है। सं० १९४८ के एक पत्रमें उन्होंने लिखा है—“इस समय व्यापार-सम्बन्धी काम परिमाणसे बहुत अधिक करना पड़ता है और उसमें मैं मन भी खूब लगाता हूँ; परंतु तब भी वह व्यापारमें नहीं गड़ता। वह आत्म-स्वरूपमें ही लीन रहता है। इससे व्यावहारिक झंझटें भार-रूप जान पड़ती हैं।”

सं० १९४९ में श्रीमद् राजचंद्रने बम्बईसे एक पत्र लिखा था। उससे भी उनके व्यापार तथा उनकी प्रवृत्तिका कुछ कुछ पता पड़ता है। वह पत्र यह है—

"गतवर्ष अगहन महीनेमें जबसे मैं बम्बई आया हूँ तबहीसे व्यापार-संबंधी झंझटें उत्तरोत्तर अधिक अधिक ही बढ़ती गईं और प्रायः उन झंझटोंको उपयोग-पूर्वक भोगना पड़ा है । तीर्थंकर भगवानने स्वभावसे ही इस कालको दुःषम काल कहा है और खास कर जनताकी प्रवृत्तिसे अनार्य बने हुए इस क्षेत्रमें तो यह काल और भी अधिक बलके साथ वर्त्त रहा है। लोगोंकी बुद्धिमें आत्म-विश्वास बिलकुल ही नहीं रहा है । ऐसे दुःषम समयमें व्यवहारकी अपेक्षा परमार्थको भूल जाना आश्चर्यकी बात नहीं है; किन्तु उसे न भूलना ही आश्चर्य है । आनन्दघनजीने चौदहवें जिनकी स्तुतिमें भी एक जगह इस क्षेत्रको दुःषम काल वर्णन किया है; और उनके समयसे इस समय तो और भी अधिक दुःषमता वर्त्त रही है । ऐसे समयमें आत्म-श्रद्धानी पुरुषोंके लिए आत्म-हितका कोई मार्ग हो तो वह एक यही है कि उन्हें निरंतर सत्पुरुषोंकी संगति करनी चाहिए । देखो, सब प्रकारकी इच्छाओंके प्रति हमारी प्रायः उदासीनता है तो भी ये संसारके व्यवहार और काल आदिक, एक बार-बार डूबते और उझकते हुए मनुष्यकी भाँति इस संसार-समुद्रके पार करनेमें हमसे बड़ा कड़ा परिश्रम लेते हैं । उस परिश्रमसे जो समय समय पर अत्यन्त सन्ताप बढ़ता है उसे शान्त करनेके लिए हमें भी सत्संग-रूप जलके पीनेकी अत्यन्त इच्छा रहा करती है; और यही बात हमें दुःख-रूप जान पड़ती है । इतना सब कुछ होने पर भी परिणामोंमें द्वेष बुद्धिको उत्पन्न न होने देना चाहिए । सर्वज्ञ भगवानका यह सिद्धान्त इस बातको सिद्ध करता है कि सब व्यवहारोंमें समता-भाव होना चाहिए । मानों आत्मा जैसा उन व्यवहारोंके विषयमें कुछ जानता नहीं है ।"

"विचार करने पर जान पड़ता है कि यह जो उपाधि उदयमें आ रही है वह सर्वथा कष्ट-रूप भी नहीं है। जिसके द्वारा पूर्वोपार्जित कर्म शान्त होते हैं उस उपाधिको तो उलटी आत्म-श्रद्धान उत्पन्न करनेवाली कहना चाहिए। मनमें सदा यह भावना रहा करती है कि थोड़े ही समयमें ये सब झंझटें दूर होकर बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थता प्राप्त हो जाय तो बहुत ही अच्छा हो। परन्तु शीघ्र ही ऐसा योग मिलना असंभव है। और जब तक ऐसा योग न मिले तब तक मनकी चिन्ताओंका मिटना भी संभव नहीं।"

"दूसरे अन्य व्यापार इसी समय छोड़ दिये जायँ तो ऐसा हो सकता है; परन्तु दो-तीन ऐसी बातें उदयमें आ रही हैं कि वे भोगने पर ही छूट सकेंगीं। वे ऐसी हैं कि कष्टसे भी उनकी स्थिति कम नहीं की जा सकती। और यही कारण है कि एक मूर्ख मनुष्यकी भाँति ये सब व्यवहार करने पड़ते हैं। ऐसा प्रसंग मानों कहीं दिखाई ही नहीं पड़ता कि किसी द्रव्यमें, किसी क्षेत्रमें और किसी भावमें स्थिति हो सके; और न इन सबमें प्रतिबद्ध होना ही अच्छा जान पड़ता है। प्रतिबद्ध होनेकी हमारी रुचि होती है निर्वृत्ति-क्षेत्र, निर्वृत्ति-काल, सत्संग और आत्म-विचारमें। और इस लिए दिनरात यही इच्छा बनी रहती है कि किसी प्रकार ऐसा सुयोग थोड़े समयमें मिल जाय तो अच्छा हो।"

दूसरा एक पत्र उन्होंने १९४९ श्रावण विदी पंचमीको लिखा था। उस परसे भी उनकी व्यापार-प्रवीणता तथा वृत्तिके सम्बन्धमें कई विशेष विशेष बातें ज्ञात हो सकती हैं। वह पत्र यह है—

"गत वर्ष अगहन सुदी ६ को जबसे मैं यहाँ आया, तबहीसे आज तक बहुतसी झंझटें भोगना पड़ी हैं। यदि जिनप्रभुकी दया न होती तो धड़ पर सिरका रहना भी कठिन हो जाता। ऐसे अनेक प्रसंग देखे हैं और दृढ़ निश्चय किया है कि आत्म-स्वरूपके जाननेवाले मनुष्यके साथ संसारकी कभी नहीं पट सकती। इस संसारकी रचना ही ऐसी है कि बड़े बड़े ज्ञानी पुरुप अपने निश्चय-उपयोगमें दृढ़ रहते हुए भी मंद परिणामी हो जाते हैं। यह ठीक है कि आत्म-स्वरूप सम्बन्धी ज्ञानका कभी नाश नहीं होता तब भी उसकी विशेष परिणति पर एक प्रकारकी आवरण-रूप उपाधिका सम्बन्ध हो जाता है। मैं उस उपाधिके कारण आज भी कष्ट पा रहा हूँ। और ऐसे ऐसे प्रसंगों पर हृदयमें प्रभुका नाम स्मरण कर बड़े कठिन परिश्रमके बाद अपनेमें स्थिर रह पाता हूँ। हाँ, सम्य-क्त्वमें किसी प्रकारकी भ्रांति नहीं होती; परन्तु यह तो स्पष्ट है कि उसके विशेष विशेष परिणाम विकसित नहीं होते। ऐसी हालतमें बहुत बार घबरा कर त्याग-वृत्तिका पालन किया जाता था; परन्तु ज्ञानी पुरुषोंका तो मार्ग यह है कि वे उपार्जित कर्मोंको अदीनता-पूर्वक समभावोंसे, बिना घबराये हुए भोगें। और इस भावनाकी स्मृतिसे ही मनमें स्थिरता आती थी कि उक्त स्थिति हीका मुझे भी पालन करना आवश्यक है। मतलब यह कि इस प्रकारकी भावनाके बाद ही मनकी घबराहट मिटती थी।"

"मेरी स्थिति ऐसी है कि सारा दिन यदि निवृत्तिके विचारोंमें व्यतीत न हो तो सुख ही नहीं हो सकता। आत्मा, आत्माके विचार, ज्ञानी पुरु-षोंका स्मरण, उनके प्रभावकी कथायें, उनके प्रति भक्ति, उनके आत्म-च-रित्रके प्रति मोह आदि बातें आज भी आकर्षित करती हैं; और उसी का-

लको मैं भजता रहता हूँ। वह काल धन्य है जिसमें ज्ञानी पुरुषोंके अपूर्व अपूर्व चरित्र हुए हैं और वह काल और भी अधिक धन्य है जिसमें ऐसे महापुरुषोंका जन्म हुआ है। उन कानोंको, उन सुननेवाले जनोंको और उन भक्त पुरुषोंको त्रिकाल वंदना है जिन्होंने उन महात्माओंके चरित्रोंको सुना है तथा उनकी भक्ति की है। उस आत्म-स्वरूपकी भक्ति, उसके चिन्तन, उसकी समझानेवाली ज्ञानी पुरुषोंकी वाणी, अथवा ज्ञानी पुरुष या उसके मार्गानुगामी ज्ञानीजनोंके सिद्धान्तकी अपूर्वता आदिको अति भक्तिके साथ प्रणाम है। मुझे अखंड आत्मधुनकी एकतार–प्रवाह–रूप उन वातोंके सेवनकी अब भी वड़ी आतुरता रहा करती है। और दूसरी ओर ऐसे क्षेत्र, ऐसे जन-प्रवाह, ऐसी झंझटें और ऐसी ही अन्य वातोंको देख कर विचार शिथिल पड़ जाते हैं। अस्तु; ईश्वरेच्छा!"

श्रीमद् राजचंद्रके–सोलह वर्षसे पहलेसे लेकर वत्तीस वर्षकी अवस्था-पर्यन्त जव कि उनका स्वर्गवास हुआ–सव पत्रों और विचारोंका संग्रह 'श्रीमद् राजचंद्र' नामक ग्रन्थमें किया गया है। उसके अभ्याससे यह वात जानी जा सकती है कि उनकी आत्म-दशा दिनों दिन बढ़ती जा रही थी। श्रीमद् राजचंद्रने सं० १९५२ कँवार विदी १२ को जो पत्र अपने पिताजीको लिखा था, उस परसे माता-पिताके प्रति उनकी भक्ति तथा आत्म-वृत्तिका कुछ पता चल सकेगा। वह पत्र यह है—

"शिरच्छत्र पिताजी,

वम्वईसे इस ओर आनेका कारण सिर्फ निवृत्ति है। शारीरिक कष्टके कारण मैं इधर नहीं आया हूँ। आपकी कृपासे शरीर अच्छा रहता है। और वही कृपा आत्मामें विशेष निवृत्ति कर रही है। इस समय वम्वईमें

रोग बहुत शान्त हो गया है। सर्वथा शान्त हो जाने पर वहाँ जानेका विचार है। आपके प्रतापसे धन कमानेका लोभ नहीं है; किन्तु आत्म-कल्याण करनेकी परम इच्छा है। माताजीसे मेरा पालागन कहिए।

बालक राजचंद्रका पालागन।"

इस पत्र परसे स्पष्ट जाना जा सकता है कि सांसारिक काम-काज करते रहने पर भी उनकी आत्माकी ओर कितना तीव्र लक्ष्य था।

तत्त्वज्ञानकी कुछ असाधारण बातें।

अब श्रीमद् राजचंद्रके तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालना आ-वश्यक जान पड़ता है। जो आत्मवादी नहीं हैं या यों कह लीजिए कि जो जड़वादी हैं उनका कहना कवि गेटीके जैसा है कि सृष्टिके गूढ़ रहस्यकी गाँठ कभी नहीं सुलझनेकी है, इस लिए उसके सुलझानेके प्रयत्नमें समय बरबाद करना उचित नही है। इस जड़वादका पृथक्करण किया जाय तो इसका यह मतलब निकलेगा कि जो लोग आत्माकी खोजके प्रयत्नमें लगे रहते हैं वह उनका भ्रम है; और इसी भ्रमके कारण ऐसे लोगोंने तत्त्वज्ञान और धर्मज्ञानका एक बड़ा भारी जाल खड़ा कर दिया है। उनकी दृष्टिके अनु-सार इस चरित्रके नायककी भी गणना ऐसे ही भ्रममें पड़े हुए लोगोंमें की जा सकेगी। परन्तु यदि जड़वादको माननेवाले चरित्र-नायककी वृत्तिका सूक्ष्म दृष्टिसे परिशीलन करें तो उन्हें मान लेना पड़ेगा कि श्रीमद् राजचंद्र भ्रममें पड़े हुए न थे; किन्तु खुद वे ही भूलमें पड़े हुए हैं। कारण जिन विचारोंके आधार पर जड़वादी लोग विचार करते हैं श्रीमद्

राजचंद्रने उन्हीं विचारोंका पहले खूब अनुभव कर वादमें आत्म-वादको स्वीकार किया है। श्रीमद् राजचंद्रके विचारोंके संग्रहमें उनकी जो डायरी प्रकाशित की गई है, उसके पढ़नेसे जान पड़ेगा कि उन्होंने सृष्टिके प्रत्येक गूढ़ रहस्य पर खूब विचार करनेके वाद ही आत्मवाद स्वीकार किया है। श्रीमद् राजचंद्रने सं० १९४६ कार्तिक सुदी १५ को—जब कि उनकी उमर पूरे वावीस वर्षकी हो चुकी थी—अपनी जीवनी लिखना शुरू की थी। उसमें उन्होंने लिखा है कि "वावीस वर्षकी उमरमें मैंने आत्मा, मन, वचन, तन, और धनके सम्बन्धमें अनेक रंग देखे हैं; और नाना प्रकारकी सृष्टि-सम्बन्धी रचनायें, नाना प्रकारकी संसार-सम्बन्धी मजा-मौज आदि अनेक अनन्त दुःखकी कारण वातोंका नाना तरह अनुभव किया है। तथा वड़े वड़े तत्त्वज्ञानी और नास्तिकोंने जो जो विचार किये हैं उसी प्रकारके विचार मैंने अपनी छोटी उमरमें किये हैं।"

एक जगह और लिखा है कि "वालकपनमें कम समझ होने पर भी न जाने कहाँसे मुझमें वड़ी वड़ी कल्पनायें उठा करती थीं। उन कल्पनाओंका एक वार ऐसा स्वरूप दिखाई दिया कि पुनर्जन्म नहीं है, पाप नहीं है, पुण्य नहीं है। सुख-पूर्वक रह कर संसारका उपभोग करना ही जीवनकी सार्थकता है। इसके वाद ही अन्य किसी झगड़ेमें न पड़ कर धर्म-सम्बन्धी सब वासनाओंको निकाल दूर करदी। किसी भी धर्मके प्रति न्यूनाधिक भाव या श्रद्धा न रही। इसी हालतमें थोड़ा समय वीत गया। इसके वाद कुछ औरका और ही बनाव वना। जिसके होनेकी मैंने कल्पना भी न की थी और मेरे हृदयमें जिसके लिए जरा भी प्रयत्न न था; तो भी अचानक एक विचित्र ही फेर-फार हो गया। कुछ और ही अनुभव हुआ। वह

अनुभव ऐसा था कि जो शास्त्रोंमें नहीं मिल सकता और जिसे जड़वादी कल्पनामें भी नहीं ला सकता। वह अनुभव फिर धीरे धीरे बढ़ता ही गया, और अन्तमें वह यहाँ तक पहुँच गया कि अब 'तूही तूही' का ध्यान रहता है।"

इस परसे जड़वादी लोग विश्वास कर सकेंगे कि श्रीमद् राजचंद्रकी जो आत्मधर्म पर श्रद्धा जमी थी वह कुल-परंपरा अथवा जन्म-संस्कारके कारण होनेवाली धर्म-वासनाके अधीन न थी। किन्तु अपनी स्वतंत्र विचार-शक्तिके द्वारा जड़वादके सम्बन्धमें पूर्ण विचार किये बाद ही उन्होंने जड़वादका मूल्य एक शून्यके जैसा समझा था। यहाँ पर कोई पाश्चात्य विज्ञानवादी या साइन्टिफिक यह कहे कि श्रीमद् राजचंद्रने जो जड़वादके सम्बन्धमें विचार किये थे वे पूर्वकी पद्धतिको लिये हुए थे। परन्तु यदि उन्होंने पाश्चात्य पद्धतिसे जड़वादका अभ्यास किया होता तो उन्हें खुद विश्वास हो जाता कि आत्मवाद भ्रम-पूर्ण है। इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य सायन्सका जो कहना है कि यह प्राणि-रचना परमाणुओंसे हुई है उसी परमाणु-शास्त्रका श्रीमद् राजचंद्रने इतना गंभीर विचार किया था कि जो पाश्चात्य परमाणु-शास्त्र-वेत्ताओंके ध्यानमें भी नहीं आ सकता। कारण जिस धर्मका श्रीमद् राजचंद्रने आश्रय लिया है उस धर्ममें परमाणु-शास्त्रका पाश्चात्य सायन्ससे सहस्र गुणा विचार किया है। 'आत्मा' की रचना परमाणुओं द्वारा कभी नहीं हो सकती। इस विषयमें श्रीमद् राजचंद्रने जो जो विचार किये हैं उन्हें उनकी लिखी 'आत्मसिद्धि' तथा अन्य पुस्तकोंके पढ़नेसे जड़वादी लोग जान सकेंगे।

जैनसिद्धान्तकी स्वीकारता।

श्रीमद् राजचंद्रकी एक 'जैन फिलोसफर'के रूपमें भी प्रसिद्धि है। इस परसे अन्य दर्शनोंके विद्वान् कह सकते हैं कि श्रीमद् राजचंद्र जैन हैं, तथा इसी प्रकार वे जैनधर्म-सम्बन्धी विचार-वातावरणमें पले-पुसे हैं, इस कारण उनके विचार जैन-सिद्धान्तके प्रति स्थिर हैं। परन्तु यदि उन्होंने अन्य दर्शनोंका भी अवलोकन किया होता तो उन्हें स्वयं ही अपने विचार वदल देना पड़ते। उनकी इस शंकाका समाधान कर देने पर निश्चित है कि उन्हें अपने विचार छोड़ देना पड़ेंगे। यह कह देना आवश्यक है कि वालकपनमें श्रीमद् राजचंद्रके संस्कारोंके लिए जैनधर्मका कोई निमित्त न था। उनके पितामहका कोई अट्ठानवें वर्षकी अवस्थामें स्वर्गवास हुआ। वे श्रीकृष्णके परम भक्त थे। और इसी कारण वालपनसे ही श्रीमद् राजचंद्रके संस्कार पौराणिक कथाओंको सुन सुन कर श्रीकृष्णकी भक्तिकी ओर वहुत झुक गये थे। वालपनमें उनके धर्म-संस्कार कैसे थे, इस विषयमें उन्होंने स्वयं लिखा है कि "मेरे पितामह श्रीकृष्णके भक्त थे। उनके पास मैंने श्रीकृष्णकी भक्तिके भजन सुने थे। इसी प्रकार प्रत्येक अवतारकी चमत्कार-पूर्ण कथा सुनी थी। उससे भक्तिके साथ साथ मेरे हृदयमें अवतारोंके प्रति श्रद्धा हो गई थी। मैंने वालपनमें कंठी वँधाई थी। मैं नित्य ही श्रीकृष्णके दर्शन करनेको जाता था। समय समय पर उनकी कथा सुना करता था। उन्हें मैं परमात्मा मानता था। और इस कारण उनके निवास-स्थानके देखनेकी वड़ी उत्कंठा थी।.......गुजरातीकी पाठ्य पुस्तकमें कितनी जगह लिखा है कि ईश्वर जगत्का कर्त्ता है। उसे पढ़ कर मेरा भी विश्वास ऐसा ही दृढ़ हो गया था। और इस कारण

जैनियोंके प्रति मेरी बड़ी घृणा हो गई थी। मेरा विश्वास हो गया था कि कोई चीज विना वनाये नहीं वन सकती। और इसी कारण मैं समझता था कि जैनी वड़े मूर्ख हैं–वे कुछ नहीं जानते।" इस प्रकार बालकपनके उनके संस्कारोंको देख कर कोई यह नहीं कह सकता कि इन संस्कारोंके कारण जैनधर्मके प्रति उनकी स्थिर श्रद्धा थी। उनके विचारोंके संग्रहके पढ़नेसे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि श्रीमद् राजचंद्रने सव दर्शनोंका कितना सूक्ष्म अभ्यास किया था। इसी प्रकार उन्हें वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनोंके सिद्धान्तका भी खूब प्रौढ़ ज्ञान था। उनकी खास डायरीके पढ़नेसे जान पड़ता है कि उन्हें एक प्रौढ़-से-प्रौढ़ वेदान्त आदि दर्शनोंके ज्ञाताके जितना ज्ञान था। हमारी जव कोई वहु-मूल्य वस्तु कहीं गिर पड़ती है तव हम उसे ढूँढ़नेके लिए सव रास्तोंको एक एक करके टटोल डालते हैं; इसी प्रकार श्रीमद् राजचंद्रने भी विश्व-व्यवस्थाके सत्य-स्वरूप-रूपी वहु-मूल्य वस्तुकी खोजके लिए जैन, वैदान्त, सांख्य आदि दर्शन-रूपी मार्गोंको खूव ही छान डाला था। उनकी डायरीसे जो अंश नीचे उद्धृत किया जाता है उसके पढ़नेसे जान पड़ेगा कि श्रीमद् राजचंद्रने जो जैनदर्शन स्वीकार किया था वह पहले सव दर्शनोंके खूव अभ्यास-मननके वाद ही स्वीकार किया था। वह अंश यह है:—

"प्रत्यक्ष नाना प्रकारके दुःखों तथा दुःखी प्राणियोंको देखा; जगत्‌की विचित्र रचनाके कारणों पर विचार किया; तथा यह सोचा कि दुःखोंका मूल कारण क्या है और उसकी निर्वृत्ति कैसे हो सकेगी? इसी प्रकार जगत्‌का अन्तरंग स्वरूप जाननेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षु तथा उपर्युक्त विचारों–के सम्वन्धमें पूर्वाचार्योंने जो समाधान किया है अथवा जैसा माना है उसकी

यथाशक्ति आलोचना की; उक्त आलोचनाके समय विविध प्रकारके मत-मतान्तर तथा सम्प्रदायोंके सम्बन्धमें यथाशक्ति विचार किया और नाना दर्शनोंके स्वरूपका मंथन किया। इस बार बारके मंथनसे जो जैनधर्मके मंथनकी योग्यता प्राप्त हुई उससे उसका खूब ही मंथन हुआ। परिणाममें जैनदर्शनकी सिद्धिमें जो पूर्वापर विरोध जान पड़ा उसका उल्लेख नीचे किया जाता है।"

इस परसे जान पड़ता है कि श्रीमद् राजचंद्रने जो जैनधर्म स्वीकार किया था उसके पहले जैन तथा अन्य दर्शनों या सम्प्रदायोंके स्वरूपकी उनने आलोचना करली थी; और उन्हें जो जो बातें जैनधर्ममें विरुद्ध जान पड़ी थीं उनका उन्होंने उचित समाधान कर लिया था। अन्य दर्शनोंके विद्वान् इस परसे जान सकेंगे कि जैनधर्म पर जो श्रीमद् राजचंद्रकी श्रद्धा हुई थी वह कुल-परम्पराके कारण न हुई थी; तथा यह बात भी न थी कि उन्होंने अन्य दर्शनोंके अभ्यास-मनन किये बिना ही जैनधर्म पर श्रद्धा करली थी। इसी बातकी पुष्टिके लिए उनका एक खण्डित पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है। उससे जान पड़ेगा कि श्रीमद् राजचंद्रकी दृष्टि सब दर्शनोंके प्रति एकसी थी तथा किसी दर्शनके प्रति उनकी स्वाभाविक राग-बुद्धि न थी। वह पत्र यह है—

"मेरे चित्तमें बार बार यह बात उठा करती है तथा परिणाम भी इसी रूप स्थिर रहते हैं कि आत्म-कल्याणके मार्गका निर्णय श्रीवर्द्धमान या श्रीऋषभदेव आदिने जैसा किया है वैसा किसी सम्प्रदायमें नहीं किया गया है। वेदान्त आदि दर्शनोंका लक्ष्य भी आत्मज्ञान तथा मोक्षकी ओर देखा जाता है; परन्तु उनका पूर्ण और यथार्थ निर्णय उनमें दिखा

नहीं पड़ता। उनका वह निर्णय एकांशको लिये हुए है और कुछ कुछ पूर्वकालसे इस समयमें बदला हुआ भी जान पड़ता है। यह ठीक है कि वेदान्तमें जगह जगह आत्म-चर्चा ही की गई है; परन्तु यह अब तक भी निश्चित नहीं हो पाया कि वह चर्चा स्पष्ट रीतिसे अविरोधी है। यह भी हो सकता है कि किसी मौके पर विचार-भेदके कारण वेदान्तका आशय हमें दूसरे ही रूपमें भासने लगे; और ऐसी शंकायें चित्तमें बार बार उठा भी करती हैं; और इसी कारण मैंने अपनी सब आत्म-शक्तिको लगा कर उसे अविरोधी रूपमें देखनेका यत्न किया है; तथापि यह जान पड़ता है कि वेदान्तमें जैसा आत्म-स्वरूप वर्णन किया गया है उससे वेदान्त सर्वथा अविरोधी नहीं कहा जा सकता; इस लिए कि आत्म-स्वरूप सर्वथा वैसा ही नहीं है। वेदान्तमें इसका कोई बड़ा भारी भेद देखनेमें आता है; और इसी प्रकार सांख्य आदि मतोंमें भी भेद देखा जाता है। परन्तु हाँ, श्रीजिन भगवानने जो आत्माका स्वरूप कहा है वह विशेषतया अविरोधी दिखाई पड़ता है और वैसा ही अनुभवमें आता है। यह प्रतीति होता है कि श्रीजिन भगवानके द्वारा कहा गया आत्म-स्वरूप सर्वथा अविरोधी होना चाहिए। यह उसके लिए भी नहीं कहा जा सकता कि वह सर्वथा अविरोधी ही है। इसका कारण इतना ही है कि सम्पूर्ण-रूपसे अभी हमारी आत्म-दशा प्रकट नहीं हुई है। परन्तु इतना अवश्य है कि जितनी आत्म-दशा प्रकट है उससे अप्रकट आत्म-दशाका वर्तमानमें अनुमान किया जा सकता है। इस अनुमान पर भी विशेष जोर देना उचित न समझ यह कहा है कि जिन भगवानका कहा आत्म-स्वरूप विशेषतया अविरोधी जान पड़ता है और वह सर्वथा

अविरोधी होने योग्य है। आत्मामें यह दृढ़ विश्वास है कि किसी पुरुषमें पूर्ण आत्म-स्वरूप-प्रकट होना ही चाहिए। और वह कैसे पुरुषमें प्रकट होना चाहिए, इस वातका विचार करने पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इसके योग्य श्रीजिन भगवान ही हैं। सारे सृष्टि-मण्डलमें किसी पुरुषमें सम्पूर्ण-रूपसे आत्म-स्वरूप प्रकट होने योग्य है तो वह वीर प्रभुमें सबसे पहले प्रकट होना चाहिए। अथवा ऐसी अवस्थाको प्राप्त किये हुए पुरुषोंमें सबसे पहले पूर्ण आत्म-स्वरूप————।"

वेदान्त और सांख्य आदि दर्शनोंका राजचंद्रने कितनी निष्पक्षपात बुद्धिसे अवलोकन किया था तथा जैनदर्शनके प्रति जरा भी राग-बुद्धि न हो जानेके लिए उन्हें कितनी सावधानी रखना पड़ती थी इस वातको वे ही लोग जान सकते हैं जो 'विचार-पृथक्करण-शास्त्र'के जानकार हैं। एक ओर इस वातका विचार कीजिए कि वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनोंका श्रीमद् राजचंद्रने कितना सूक्ष्म परिशीलन किया था, जिसके लिए कि उन्होंने जगह जगह आत्म-चर्चाहीका विचार किया है; और इन दर्शनोंको अविरुद्ध रूपमें देखनेके लिए उनका कितना उच्च लक्ष्य था। उसके साथ दूसरी यह वात ध्यानमें रखिए कि उन्होंने अपना अनुभव इस रूपमें वतलाया है कि जिन भगवानके द्वारा कहा गया आत्म-स्वरूप सम्पूर्णपने अविरोधी होना चाहिए; परन्तु वे यह नहीं कहते कि वह सम्पूर्ण-रूपसे अविरोधी है। इसका कारण वे यह वतलाते हैं कि "अभी हममें पूर्ण आत्म-दशा प्रकट नहीं हुई है। अर्थात् केवलज्ञान होने पर श्रीवर्द्धमान स्वामी या श्रीऋषभदेव आदि परम पुरुषोंको आत्म-स्वरूपका जैसा अनुभव हुआ था वैसा अनुभव हमें नहीं हुआ है।" कहनेका मतलब यह

कि श्रीमद् राजचंद्रका आत्मा किसी भी कारणसे जैन तथा अन्य दर्शनके विषयमें अन्यथा या कोई विशेष-रूपसे अपने विचार स्थिर करनेमें अत्यन्त डरा करता था ।

यह कोई नहीं कह सकता कि उन्हें धर्मका मोह था, इस कारण उनका मन जैनधर्मके सिद्धांतोंको सत्य समझता था । उनके विचारोंका अभ्यास करनेसे यह बात सहज जानी जा सकती है कि उनके एक रोममें भी किसी धर्मके प्रति जरा भी ममत्व न था । उन्होंने पग पग पर यही चर्चा की है कि धर्मका मोह कभी न होना चाहिए। यहाँ पर दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं । श्रीमद् राजचंद्रके शब्दोंमें उनका अर्थ होता है—"जगत्में जो भिन्न भिन्न मत और दर्शन देखनेमें आते हैं यह केवल दृष्टि-भेद है ।" इन पद्यों परसे यह कहनेका कोई साहस नहीं कर सकता कि उन्हें धर्म-सम्बन्धी मोह था । वे पद्य ये हैं–

भिन्न भिन्न मत देखिए, मोह–दृष्टिनो एह ।
एकतत्त्वना मूलयमां, व्यप्या मानो तेह ॥
तेह तत्त्वरूप वृक्षनो, आत्मधर्म जे मूल ।
स्वभावनी सिद्धी करे, धर्म तेज अनुकूल ॥

अर्थात् भिन्न भिन्न जो मत देखे जाते हैं वह सब दृष्टिका भेद है । ये सब ही मत एक तत्त्वके मूलमें व्याप्त हो रहे हैं । उस तत्त्व-रूप वृक्षका मूल है आत्मधर्म, जो कि स्वभावकी सिद्धि करता है; और वही धर्म अनुकूल है--धारण करने योग्य है । उनके कहनेका मतलब यह जान पड़ता है कि आत्माका वास्तविक स्वभाव जिसके द्वारा सिद्ध हो सके वही धर्म अपना स्वकीय धर्म है या अनुकूल धर्म है ।

जैनधर्मके 'स्थानांग-सूत्र'में धर्म-सम्बन्धी जो जो मत अथवा विचार आते हैं उनका मुख्यतासे आठ वादोंमें समावेश किया गया है। इन आठ वादोंमें जैन तथा सांख्य आदि सभी धर्म-सम्बन्धी विचार आ जाते हैं। एक बार किसी जिज्ञासुने श्रीमद् राजचंद्रसे कुछ प्रश्न किये कि (१) 'स्थानांग'में जो आठ वाद कह गये हैं उनमें आप तथा हम किस वादमें शामिल हो सकते हैं?; (२) इन आठ वादोंसे भिन्न कोई अन्य मार्ग स्वीकार करने योग्य हो तो उसके जाननेकी बड़ी इच्छा है; अथवा इन आठों वादोंके मार्गोंको मिला कर कोई एक मार्ग स्थिर कर लिया जाय तो क्या हानि है?; अथवा इन्हें कुछ न्यूनाधिक रूपमें मिला कर कोई मार्ग स्थिर कर उसे ग्रहण किया जाय तो वह मार्ग किस रूप है? इन प्रश्नोंका श्रीमद् राजचंद्रने जो उत्तर दिया है उस परसे जान पड़ता है कि उनमें धर्म-वादका जरा भी मोह न था। उनका लक्ष्य निरंतर आत्म-प्राप्तिकी ओर ही लगा रहता था। इन प्रश्नोंके उत्तरमें उन्होंने लिखा था कि "ऐसा जो लिखा है उसमें जानने योग्य यह है कि इन आठों वादोंमें तथा इनके सिवाय अन्य दर्शनों और सम्प्रदायोंमें आत्म-मार्ग कुछ मिला हुआ रहता है या बहुधा करके भिन्न ही रहता है। ये सब वाद, दर्शन या सम्प्रदाय किसी प्रकार मोक्ष-प्राप्तिके कारण हो सकते हैं; परन्तु सम्यग्ज्ञान-रहित जीवोंके लिए ये उलटे बंधके कारण हो जाते हैं। आत्म-मार्गके प्राप्त करनेकी जिसे इच्छा उत्पन्न हुई है उसे इन सबका 'साधारण ज्ञान' प्राप्त करना चाहिए, इन्हें पढ़ना और विचारना चाहिए; बाकी मध्यस्थ रहना चाहिए। 'साधारण ज्ञान'का यहाँ पर यह अर्थ करना चाहिए कि जिन सामान्य विषयोंमें अधिक मतभेद न हो वह ज्ञान।"

कोई यह कहे कि जैनधर्मके प्रति श्रीमद् राजचंद्रकी राग-बुद्धि होनी चाहिए; क्योंकि उसी राग-बुद्धिके कारण ही अन्य दर्शनोंका माना हुआ आत्म-स्वरूप स्वीकार न कर जैनधर्ममें कहे हुए आत्म-स्वरूपको उन्होंने स्वीकार किया। ऐसे लोग अपने मनका समाधान उनके सं० १९४४ कँवार विदी २ के पत्रसे कर सकते हैं। उस पत्रमें उन्होंने लिखा था— "पार्श्वनाथ आदि योगीश्वरोंकी अवस्थाका स्मरण रखना और सदा यही अभिलाषा रखना। यह अल्पज्ञ आत्मा उस पदका इच्छुक है और उन महापुरुषोंके चरण-कमलोंमें तल्लीन रहनेवाला एक गरीब शिष्य है। जगत्के सब दर्शनों—मतोंके—भेद-भाव—श्रद्धाको भूल जाना। मात्र (पार्श्वनाथ आदि) सत्पुरुषोंके अद्भुत योगसे प्रकट हुए चरित्रमें ही उपयोगको प्रेरित करना। और यह बात भूलोगे नहीं कि राग-द्वेष छोड़ना ही मेरा धर्म है। परम शान्ति-पदकी इच्छा करना ही हम सबका स्वीकृत धर्म है। मैं किसी गच्छमें नहीं हूँ; किन्तु आत्मामें स्थित हूँ।

कोई यह समझे कि भले ही श्रीमद् राजचंद्रका जैनधर्मके प्रति ममत्व या राग-बुद्धि न हो; परन्तु इतना अवश्य है कि पार्श्वनाथ आदिके प्रति उनका प्रशस्त अनुराग है। यदि उनका अन्य दर्शनोंके महात्माओंके प्रति भी अनुराग होता तो जैसा उन्हें पार्श्वनाथ आदिके द्वारा प्रणीत आत्म-स्वरूप यथार्थ जान पड़ा उसी प्रकार अन्य दर्शन-प्रणीत आत्म-स्वरूपमें भी कोई न कोई अच्छा जान पड़ता। ऐसे विचारवाले लोग जब जान सकेंगे कि श्रीमद् राजचंद्रका अनुराग न उन दर्शनोंके प्रणेताओं पर ही था; किन्तु उन दर्शनोंके भक्तों पर भी उनका अत्यन्त अनुराग था तब बहुत संभव है कि वे अपने विचारोंको बदल देंगे। इस विषयको

स्पष्ट करनेके लिए उनके एक पत्रका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है यह पत्र उन्होंने सं० १९४७ अगहन विदीमें लिखा था । ७५ लिखा था—

"कुणवी और कोली जैसी जातिमें भी थोड़े वर्षोंमें ऐसे वहुतसे पुरुष हो गये हैं जिन्होंने आत्म-मार्ग प्राप्त किया है । ऐसे महात्माओंका साधारण जन-समाजको परिचय न होनेके कारण उनके द्वारा कोई विरला ही सिद्धि लाभ कर सका है । यह कैसा अद्भुत ईश्वरीय विधान है जो महात्मा पुरुषोंके प्रति भी लोगोंको मोह उत्पन्न न हुआ ! ये सब ज्ञानकी अन्तिम सीमा तक पहुँच न गये थे; परन्तु उस सीमाका प्राप्त करना इनके लिए वहुत कुछ पास ही था । ऐसे पुरुषोंके प्रति हृदयसें वड़ा उल्लास होता है और यह उत्सुकता वनी रहती है कि मानों निरंतर उनके चरण-कमलोंकी भक्ति ही करते रहें । और यही उनकी भक्ति हमें अपना दास वनाती है ।" काठियावाड़में एक कहावत प्रसिद्ध है कि **'भोजो भगत, निराँत कोली'** अर्थात् भोजा और निराँतके जैसे कोली आदि जातियोंमें भी वड़े वड़े महात्मा हो गये हैं ।

इसी प्रकार अपने एक पत्रमें उन्होंने श्रीमद् शंकराचार्यका वड़े गौरवके साथ स्मरण किया है । उन्होंने उनके एक वाक्यका उल्लेख कर लिखा है—

"क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका ।

अर्थात् क्षण भरके लिए भी की गई सत्पुरुषोंकी संगति संसार-रूप समुद्रके तैरनेके लिए नौकाके सदृश है।

"यह वाक्य महात्मा शंकराचार्यजीका है, और वास्तवमें बहुत ही यथार्थ है। हृदयमें निरन्तर यही भावना रहती है कि स्वयं परमार्थ-रूप बन कर अन्यजनोंको भी परमार्थ-साधनमें सहायता दूँ और यही कर्त्तव्य भी है; परन्तु अभी ऐसा योग मिलना कठिन है।"

यह ठीक है कि श्रीमद् राजचंद्रको विचार तथा अनुभवमें श्रीजिन-प्रणीत वस्तु-स्वरूप यथार्थ जान पड़ता था; परन्तु यदि उनके विचारोंका परिशीलन किया जाय तो यह बात स्वीकार कर लेनी पड़ेगी कि उन्होंने अन्य दर्शनोंमें जहाँ उत्तमता देखी है उनके प्रति अपना अत्यन्त प्रेम-भाव बतलाया है। पुराणोंमें जो भक्तिका अद्भुत माहात्म्य बतलाया गया है उस पर उनका अत्यन्त ही प्रेम था। नीचेके एक पत्र परसे इस बातकी प्रतीति हो सकेगी। यही नहीं; किन्तु फिर वैदिक मतानुयायी जन यह शंका भी न उठा सकेंगे कि श्रीमद् राजचंद्रको जैन सिद्धान्तका अन्तिम सहारा था अर्थात् उन्होंने वैदिक सम्प्रदायोंके सिद्धान्तका यथाव-स्थित रूपसे अवलोकन न किया था। यह पत्र उन्हें विश्वास करायेगा कि जिसने बड़े प्रेमके साथ वैदिक विचारोंका अभ्यास किया है वही ऐसे वि-चारोंको लिख सकता है। उस पत्रका अंश यह है—

"आज प्रातःकालसे निरंजन प्रभुका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशमान हुआ है। आज बहुत दिन हुए वांछित उत्कृष्ट भक्ति कोई अनुपम रूपमें उदय हुई है। श्रीमद् भागवतमें जो कथा है कि गोपियाँ भगवान् वासु-देव—कृष्णचन्द्र—को महीकी मटकीमें रख कर बेचनेके लिए निकली थीं,

वह प्रसंग आज बार बार स्मरणमें आ रहा है। वहाँ सहस्र दलका कमल है; और आदिपुरुष भगवान वासुदेव उसमें विराजमान हैं। इनकी प्राप्ति जब किसी सत्पुरुषकी चित्त-रूपी गोपीको हो जाती है तब वह उपदेशिका बन कर अन्य मुमुक्षु आत्मासे कहती है कि "कोई माधवको खरीदो, कोई माधवको खरीदो।" अर्थात् वह कहती है कि आदि-पुरुषकी मुझे प्राप्ति हो गई है; और यही एक प्राप्त करने योग्य है; अन्य कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है, इस लिए उसे ही प्राप्त करो। वह आनन्दमें मस्त होकर बार बार कहती है कि "तुम उस पुराण-पुरुषको प्राप्त करो; और यदि उसे प्राप्त करनेकी तुम्हें अचल प्रेमसे चाह हो तो मैं उस आदि-पुरुषका लाभ करा सकती हूँ। मटकीमें रख कर उसे बेचनको निकली हूँ, ग्राहक देख कर बेच दूँगी। कोई ग्राहक बनो; अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो। मैं उसे वासुदेवकी प्राप्ति करा-दूँगी।" मटकीमें रख कर बेचनेके लिए निकलनेका अर्थ है 'सहस्रदल वाले कमलमें विराजे हुए भगवान् वासुदेव'। महीकी केवल कल्पना मात्र है। सारी सृष्टिको मथ कर जो मही निकाला जाय तो वह अमृ-तरूप भगवान वासुदेव हीके रूपमें निकलेगा। ऐसे सूक्ष्म-रूपको स्थूल-रूप देख कर व्यासजीने अद्भुत भक्तिका गान किया है। यह कथा तथा सारी भागवत ये दोनों एकहीकी प्राप्ति करानेके लिए अक्षर अक्षरसे भरी हुई हैं, और यह बात बहुत समय पहलेहीसे मेरी समझमें आ चुकी है।"

ऐसे अनेक लेख और विचार 'श्रीमद् राजचंद्र' नामक ग्रन्थ परसे जाने जा सकते हैं। इन लेखों और विचारोंका अवलोकन किये बाद

विश्वास है कि वैदिक धर्मानुयायी जन यह कहनेकी इच्छा नहीं कर सकेंगे कि श्रीमद् राजचंद्रके विचार जैनधर्मकी ओर झुके हुए थे, इस कारण उन्होंने अन्य सम्प्रदायोंके विचारोंका अवलोकन नहीं किया था।

अब कुछ श्रीमद् राजचंद्रकी अध्यात्म दशाके सम्बन्धमें विचार प्रकट करना आवश्यक जान पड़ता है। यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि श्रीमद् राजचंद्रका अभिप्राय यह था कि जिन भगवानने जैसा आत्म-स्वरूप कहा है वैसा ही उसे होना चाहिए। इस विषयका एक लेख पहले उद्धृत किया जा चुका है कि वेदान्त, जैन और सांख्य आदि दर्शनोंमें आत्माका यथार्थ स्वरूप किसने प्ररूपण किया है। उस लेखकी 'विचार-पृथक्करण-शास्त्र' द्वारा जाँच की जाय तो इस बातका निर्णय हो सकता है कि राजचन्द्रको आत्मानुभव हुआ था या नहीं; और हुआ था तो वह किस सीमा तक हुआ था। उस लेखमें उन्होंने लिखा है कि "वेदान्त जिस प्रकार आत्म-स्वरूप बतलाता है उससे वह सर्वथा अविरोधी नहीं है; क्योंकि वह जैसा बतलाता है वैसा ही आत्म-स्वरूप नहीं है। उसमें कोई बड़ा भारी भेद दिखाई पड़ता है; और इसी प्रकार सांख्य आदि दर्शनोंमें भी भेद देखनेमें आता है और वैसा ही वेदनमें आता है।" जिस पत्र परसे यह अंश उद्धृत किया गया है वह सारेका सारा पत्र पहले उद्धृत किया जा चुका है। विचार-पृथक्करण-शास्त्र द्वारा उनके विचारोंका खूब परिशीलन कर देखा जाय तो जाना जा सकता है कि श्रीमद् राजचंद्रके हृदयके किसी भी कोनेमें वेदान्त आदि दर्शनोंके प्रति थोड़े भी न्यून भाव न थे, इसी प्रकार जैनदर्शनके प्रति जरा भी पक्षपात न था। इस कहनेका अभिप्राय यह है कि इन

लेखोंको पढ़ कर कोई यह मतलब न निकाले कि श्रीमद् राजचंद्रका रत्ती भर भी जैनधर्मके प्रति पक्षपात था । मतलब यह है कि अन्य लेखोंकी अपेक्षा यह लेख सर्वथा पक्षपात-रहित है। उस लेखमें वे कहते हैं कि "वेदान्त जिस प्रकार आत्म-स्वरूप बतलाता है उससे वह सर्वथा अविरोधी नहीं है; क्योंकि जैसा वह कहता है सर्वथा वैसा आत्म-स्वरूप नहीं है । उसमें कोई बड़ा भारी भेद दिखाई पड़ता है और वैसा ही उसका वेदन होता है।" इसमें दो वाक्यों पर खास ध्यान देना चाहिए। पहले तो उन्होंने जो यह कहा कि "वेदान्त आदि जैसा कहते हैं उसी प्रकार आत्म-स्वरूप नहीं है।" इसमें वैसा ही शब्दका प्रयोग कर जो उन्होंने वाक्य पर जोर डाला है वह उनका वैसा ही अनुभव बतलाता है । जो स्वयं इस बातका उन्हें अनुभव न हुआ होता तो वे '**उसी प्रकार आत्म-स्वरूप नहीं है**', इस प्रकार अनुभव-सूचक जोरदार वाक्य कभी न लिखते । कारण उनके अभिप्राय इसी पत्र परसे जान पड़ते हैं कि वे ऐसा कभी नहीं कह सकते कि जितना अनुभव उन्हें हुआ हो उससे ज्यादा बतलावें । जैन-धर्ममें कहे हुए आत्म-स्वरूपका अनुभव उन्हें था; और इस बातका विश्वास इस परसे भी हो सकता है कि वे जैनधर्ममें कहे गये आत्म-स्वरूपका अनुभव करते थे । उन्होंने लिखा है कि "जितनी आत्म-दशा प्रकट है उससे अप्रकट आत्म-दशाका भी अनुमान किया जा सकता है।" यह बात बतलाती है कि श्रीमद् राजचंद्रको जैनधर्ममें कहे हुए आत्म-स्वरूपका एक खास सीमा तक अनुभव हो चुका था। उन्होंने कहा है कि "हममें सम्पूर्ण-रूपसे आत्मावस्था प्रकट नहीं

हुई है; और इसी कारण अनुमान पर अत्यन्त जोर देना उचित न समझ श्रीजिन भगवानने जो आत्म-स्वरूप कहा है वह विशेषतया अविरोधी है, ऐसा कहा है।" इस अंश तथा इसके बादके अंश पर यदि मनन-पूर्वक विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि सारे पत्रका सार यह है कि श्रीमद् राजचंद्रको महावीर आदिके द्वारा कहे हुए आत्म-स्वरूपका प्रत्यक्ष अनुभव एक खास सीमा तक था; किन्तु महावीर आदिने जो कैवल्य अवस्था तक स्वरूप प्राप्त किया था वह उन्हें अनुभवके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हुआ था और इसी केवलज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे ही, अपने आपको स्पष्ट विश्वास होने पर भी, उन्होंने यह नहीं कहा कि जिन भगवानके द्वारा कहा गया आत्म-स्वरूप सर्वथा अविरोधी 'ही' है। इस वाक्यमें 'ही' का प्रयोग कर उस पर जोर नहीं दिया; जब कि पहले "वेदान्तादि दर्शन जैसा कहते है वैसा 'ही' आत्म-स्वरूप नहीं है, इस वाक्यमें 'ही' का प्रयोग कर वाक्य पर जोर दिया है। यह कथन इस बातको सिद्ध करता है कि श्रीमद् राजचंद्रको यह दृढ़ अनुभव हो गया था कि वेदान्तादि दर्शन जैसा आत्म-स्वरूप बतलाते हैं वह वैसा नहीं है। और जैनधर्म जिस प्रकार आत्म-स्वरूप बतलाता है उसका एक खास सीमा तक प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें था। इस अनुभवका यह मतलब समझना चाहिए कि पूर्ण प्रत्यक्ष अनुभवसे–कैवल्य समयमें होनेवाले अनुभवसे–यह कुछ अंशमें न्यून था। पाठकोंसे यह खास आग्रह है कि वे श्रीमद् राजचंद्रके इस लेख तथा अन्य सब लेखोंको पढ़ कर, मनन कर उनके विषयमें अपने विचार स्थिर करें।

जैनधर्ममें मोक्ष जानेके लिए चौदह गुणस्थानोंका क्रम बतलाया गया

है। उनमें पहलेके तीन गुणस्थानोंमें जीवको तत्त्व-श्रद्धान-रूप तथा आत्म-श्रद्धान-रूप सम्यग्दर्शन नहीं होता। जब जीव चौथे गुणस्थानको प्राप्त करता है तब जगत्के कारण-भूत पदार्थोंकी उसे यथार्थ प्रतीति—सम्यग्दर्शन होता है। जैन शास्त्रोंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणोंकी सम्पूर्णपने एकता लाभ करने पर वहुत जोर दिया गया है; और यही एकता ही मोक्षमार्ग है। इनमें पहले सम्यग्दर्शनके पाँच भेद हैं। उनमें उपशम-सम्यक्त्व, क्षयोपशम-सम्यक्त्व और क्षायिक-सम्यक्त्व मुख्य हैं। इस समय जैनधर्मकी ऐसी मान्यता है कि इस कालमें क्षायिक—सम्यक्त्व नहीं होता। इस कथनको यदि उत्सर्ग कथन मान लिया जाय तो श्रीमद् राजचंद्रके विचारों परसे यह कहा जा सकता है कि उन्हें 'क्षायिक-सम्यक्त्व' हो गया था। उन्होंने अपने आत्माके सम्बन्धमें लिखते हुए एक पद्यमें लिखा था कि "ओगणिसर्से सुड़तालीशे समकित शुद्ध प्रकाश्यु रे।" इस पद्यमें जो 'शुद्ध समकित' शब्द है उसका अर्थ 'क्षायिक-सम्यक्त्व' हो सकता है। यद्यपि राजचंद्रने स्पष्ट शब्दोंमें 'शुद्ध सम्यंक्त्व' का अर्थ 'क्षायिक-सम्यक्त्व' कहीं नहीं लिखा है; परन्तु उनके विचारोंको देखनेसे ऐसा अर्थ करना कोई अनुचित नहीं जान पड़ता। जो यह कहा जाता है कि इस कालमें क्षायिक-सम्यक्त्व नहीं होता इस कथनको उत्सर्ग-रूपमें स्वीकार कर लिया जाय तो फिर अपवाद-रूपसे श्रीमद् राजचंद्र क्षायिक-सम्यक्त्व धारण करनेवाले जीवोंकी श्रेणीमें गिने जा सकते हैं। इस विषयमें गहरी खोज करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। कारण पहले तो इसी वातका निश्चय करना कठिन है कि जैन शास्त्रोंकी वह मान्यता उत्सर्ग-रूप है या अप-

वाद-रूप है; और दूसरी ओर श्रीमद् राजचंद्रकी अभ्यन्तर दशाके सम्बन्धमें विचार प्रगट करनेका साहस करना भी शक्तिके बाहरका काम है। जैन शास्त्रोंमें कहा गया है कि " 'सम्यक्त्व' प्राप्त हुए बाद यदि वह छूट न जाय तो अधिकसे अधिक पन्द्रह भवोंमें जीव नियमसे मोक्ष चला जाता है।" श्रीमद् राजचंद्रने भी आत्मोपयोगी एक पद्य लिखते हुए इस विषय पर प्रकाश डाला है कि उन्हें आगे कितने भव धारण करना पड़ेगे। वह पद्य यह है—

"अवश्य कर्मनो भोग छे, भोगववो अवशेष रे;
तेथी देह एकज धारीने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे।"

यह पद्य उन्होंने न किसीको लिखा था और न उनके किसी ग्रन्थमें ही आया है; किन्तु अपने जीवनकी आदर्श-रूप तीन घटनाओंको जो उन्होंने नोट कर रक्खा है उसी परसे लिया गया है। उन नोटोंका कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत करना आवश्यक जान पड़ता है, जिससे इस बातका ज्ञान हो सकेगा कि इन नोटोंमें उन्होंने समय समय पर अपने सब गुण-दोषों अथवा अच्छा-बुरी हालतके चित्रित करनेका यत्न किया है। वह अंश यह है—

"तीर्थंकर प्रभुने जो यह कहा है कि सर्वसंग-परिग्रह महा आस्रवका कारण है यह सत्य है, । मुझे भी मिश्र गुणस्थानके जैसी स्थिति उचित नहीं जान पड़ती। जो बात मनमें न हो उसे करना और जो मनमें हो उसके प्रति उदास रहना, यह व्यवहार कैसे हो सकता है? इस वैश्य-वृत्ति और निर्ग्रंथ-रूपमें रहते हुए कोटि कोटि विचार हुआ करते हैं।

यह सत्य है कि लोग वेष और वेष-सम्वन्धी विचारोंको देख कर ही वैसा मान सकते हैं। और यह भी सत्य है कि निर्ग्रंथ-भाव धारण करनेके लिए उत्सुक चित्त व्यवहारमें रह कर यथार्थ प्रवृत्ति नहीं कर सकता। यही कारण है कि इन दो स्थितियोंकी एक स्थितिके रूपमें प्रवृत्ति नहीं की जा सकती। पहली स्थितिमें रहने पर निर्ग्रंथ-भावनासे उदासीन रहना पड़ता है और तव ही ठीक ठीक व्यवहार साधन किया जा सकता है; और निर्ग्रंथ-भावना धारण की जाय तो फिर व्यवहार चाहे जैसा चले उससे उपेक्षा ही करनी पड़ेगी। कारण व्यवहारसे उपेक्षा किये विना निर्ग्रंथ-भावना नष्ट हुए विना नहीं रह सकती। अथवा उसे अत्यन्त ही कम कर देना पड़ेगा। उस व्यवहारके छोड़े विना या कम किये विना निर्ग्रंथ-भावना यथार्थ नहीं रह सकती। और साथ ही जव तक व्यवहारका उदय है तव तक वह छोड़ा भी नहीं जा सकता। इस सव विभाव-योगके विना मिटे ऐसा दूसरा कोई उपाय नहीं है जिससे हमारा चित्त सन्तोष लाभ कर सके। वह विभाव-योग दो प्रकारका है। एक तो उदय-रूप है और दूसरा उस विभाव योगमें आत्म-बुद्धि माननें-रूप है। इनमें आत्म-भावरूप विभाव-योगकी तो उपेक्षा करना ही हितकारी है। और नित्य यह वात विचारमें भी आती रहती है। उस विभाव-योगमें रह कर आत्म-भावको वहुत क्षीण कर डाला है और वर्तमानमें भी वही परिणति हो रही है। इस विभाव-योगको जव तक सर्वथा नष्ट न कर दिया जायगा तव तक चित्तको किसी भी प्रकार शान्ति नहीं मिल सकेगी। और इस समय तो उसीके कारण वहुत ही कष्ट भोगना पड़ता है। क्योंकि उदय तो विभाव-योग-क्रियाका है और इच्छा आत्म-

स्वभावमें स्थिति करनेके लिए उत्सुक है। यह जान पड़ता है कि यदि विभाव-योगका उदय बहुत काल तक रहा तो आत्म-भाव अधिक चंचल होंगे, कारण उदय भावकी ओर जो प्रवृत्ति हो रही है वह आत्म-भावोंके अन्वेषणके लिए समय प्राप्त नहीं होने देती। और उसीसे कितने ही अंशमें आत्म-भाव जागृत नहीं हो पाते। जो आत्म-भाव उत्पन्न हुआ है उसकी ओर यदि विशेष लक्ष्य दिया जाय तो थोड़े ही समयमें वह बढ़ सकता है, विशेष जाग्रत हो सकता है, और थोड़े ही समयमें कल्याण-कारक उच्च आत्म-दशा प्रगट हो सकती है। और यदि उदयकी जितनी स्थिति है उतने ही समय तक उदय-काल रहने दिया जाय तो आत्माके लिए शिथिल होनेका मौका आ जायगा। कारण अब तक उदय-कालकी चाहे जैसी ही स्थिति क्यों न रही हो; परन्तु वह चिर समयसे चले आये आत्म-भावको नष्ट नहीं कर सका है; किन्तु हाँ, कुछ कुछ उसमें अजाग्रत-भाव उसने अवश्य पैदा कर दिया है। इतने पर भी यदि उदय-काल ही पर ध्यान रक्खा जायगा तो उसका परिणाम यह होगा कि आत्मामें शिथिलता आ जायगी। तब क्या मौन धारण कर लेना चाहिए? वह भी नहीं बन सकता। कारण व्यवहारका जो उदय हो रहा है उससे मौनावस्था लोगोंके लिए कषायका कारण बन जायगी, और फिर व्यवहारकी प्रवृत्ति भी न होगी। तब क्या उस व्यवहार हीको छोड़ देना? विचार करने पर ऐसा करना भी बहुत कठिन जान पड़ता है। क्योंकि चित्तमें ऐसी भी इच्छा बनी रहती है कि व्यवहारके उदयको भी कुछ-कुछ भोगते रहना चाहिए। इतना सब कुछ होने पर भी यह इच्छा है कि थोड़े समयमें इस व्यवहारको कम ही कर देना अच्छा है। फिर वह

शिथिलतासे हो, उदय-वश हो, दूसरेकी इच्छासे हो या भावीके वश हो। वह कम कैसे किया जा सकेगा; क्योंकि उसका विस्तार बहुत ही फैल रहा है। वह कहीं व्यापारके सम्बन्धसे है, कहीं कुटुम्ब-परिवारके प्रतिबन्धके कारणसे है, कहीं युवावस्थाके प्रतिबन्ध-रूपसे है, कहीं दयाके रूपमें है और कहीं उदय-रूपसे है। यह मैं जानता हूँ कि जब अनन्त काल तक प्राप्त न हुआ आत्म-स्वरूप केवलदर्शन और केवलज्ञान प्राप्त होने पर अन्तर्मुहूर्त मात्रमें प्राप्त किया गया है तब वर्ष, छह महीनेके जितने कालमें इतना व्यवहार कैसे कम न किया जा सकेगा। वह केवल उपयोग दशाको जाग्रत करने पर निर्भर है; और उस उपयोगकी शक्तिका नित्य विचार करते रहने पर थोड़े समयमें निवृत्त हो सकता है। तब भी मेरा विश्वास है कि इतना विचार अब भी करना आवश्यक है कि किस प्रकार उसकी निवृत्ति करना उचित है; क्योंकि आत्म-सामर्थ्य कुछ मंदसा हो रहा है। इस मंद अवस्थाका कारण क्या है? इस पर विचार करनेसे यह कहनेमें कुछ बाधा न आयगी कि उदयके बलसे प्राप्त हुआ संसार-समागम ही इसका कारण है। इस समागमसे बड़ी अरुचि रहा करती है तो भी इसमें शामिल होना पड़ता है। वह समागमका दोष नहीं किन्तु मेरा ही दोष है। अरुचि होनेसे इच्छाका दोष न कह कर उदयका दोष कहा है।"

इस प्रकार उनकी डायरी उनके गुण-दोषोंको दिखलानेके लिए काचके सदृश है; और उसमें यह बात भी लिखी है कि उन्हें कितने भव धारण करना पड़ेंगे, जिसका कि ऊपर जिकर आ चुका है। इस जड़वादके

युगमें जहाँ आत्माका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया जाता वहाँ आत्माको त्रिकाल-नित्य माननेके लिए फिर जगह ही कहाँ रह जाती है? और यदि ऐसा ही हो तो फिर जो यह कहे कि अभी मुझे इतने शरीर धारण करना बाकी है उसका वह कहना जड़वादी लोगोंको सिवाय भ्रमके और क्या जान पड़ेगा। इस विषयमें जड़वादियोंके प्रति यह कहना है कि वे खुद ऐसे पुरुषके सम्बन्धमें विचार करें। ऐसा करनेसे उन्हें विश्वास होगा कि जड़वादके सम्बन्धमें उन्होंने जो जो विचार किये होंगे उनकी अपेक्षा श्रीमद् राजचंद्रने अपनी लोक-प्रसिद्ध असाधारण शक्ति द्वारा कहीं अधिक विचार किया है। इसी प्रकार उन्होंने सब ही दर्शनोंका परिशीलन-मनन कर अपने अन्तिम विचार स्थिर किये हैं। कुछ लोगोंका यह विश्वास है कि जो लोग धर्मको ही अपना विषय बना लेते हैं उनके एक ऐसे प्रकारके विचार हो जाते हैं कि जिससे वे धर्मशास्त्रोंकी बहुधा बातोंको बिना 'हाँ'-'ना' किये मान लेते हैं। ऐसे लोगोंके प्रति इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वे श्रीमद् राजचंद्रके विचारोंको जरा पढ़ें। उससे उन्हें विश्वास होगा कि जिस प्रकार एक बड़े भारी नास्तिकके मन पर धर्म-सम्बन्धी कोई भी प्रकारके विचारोंका जरा भी प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार श्रीमद् राजचंद्रके मन-पर भी तत्त्व अथवा विश्व-व्यवस्थाकी कारणभूत वस्तुओंके सम्बन्धके धार्मिक विचार जरा भी अपना प्रभाव न डाल सके थे। यह बात बार बार कही जा चुकी है कि इसके लिए उनके विचारोंका अवलोकन करना चाहिए; और फिर भी यही कहा जाता है कि जितना हो सके उतना उनके विचारोंको कसौटी पर चढ़ाना चाहिए। उससे यह निश्चय हो

सकेगा कि जिस प्रकार वैज्ञानिक लोग अपने मन पर किसी प्रकारके धार्मिक विचारोंका प्रभाव न पड़ने देकर काम करते हैं उसी प्रकार श्रीमद् राजचंद्रने भी धार्मिक विचारोंके प्रभावमें न पड़ कर ही प्रत्येक विषयका विचार किया था। लेखक यह वात कह कर श्रीमद् राजचंद्रकी ख्याति नहीं चाहता है कि उन्हें आत्म-स्वरूपका अनुभव हो गया था अथवा उन्हें यह ज्ञान हो गया था कि वे कितने भव धारण करेंगे। कारण लेखक मानता है कि अब ऐसी ख्यातिसे उनकी जरा भी हानि या लाभ नहीं है। इसके साथ यह भी समझना चाहिए कि लेखक मोह-बुद्धिसे प्रेरित होकर कोई अतिशयोक्ति भी नहीं कर रहा है। कारण वह समझता है कि मोह-बुद्धि कर्मबंधकी कारण है। लेखकने उनके स्वरूपका जो अनुभव किया है उसे वह इस लिए प्रकट करना चाहता है कि इस युगमें जिन्हें आत्माके अस्तित्वसे इन्कार है और जो उसे नित्य कुबूल नहीं करते वे स्वयं श्रीमद् राजचंद्रके विचारोंके विषयमें अभ्यास करनेके लिए आकर्षित हों। ऐसा करनेसे उन्हें विश्वास होगा कि ज्ञानियोंने जो आत्मा आदि पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार किया है वह विलकुल सत्य है; और उसी सत्यके उदाहरण श्रीमद् राजचंद्र हैं। इस उद्देशको छोड़ कर लेखकके मनमें और कोई उद्देश नहीं है कि जिससे वह श्रीमद् राजचंद्रके सम्बन्धमें कुछ कहे।

श्रीमद् राजचंद्रने जो कहा है वह न तो अंध-श्रद्धासे कहा है और न सामान्य श्रद्धाके वश होकर कहा है; अथवा न यही वात है कि वे धार्मिक विचार-वातावरणमें पले-पुसे हैं इस कारण उनकी शक्ति ही स्तंभित हो गई थी। इस प्रकार उनके विषयमें पूरा पूरा ज्ञान हो जानेके बाद

जो लोग आत्माके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते उन्हें यदि आत्मा पर विश्वास हो जाय तो उनका एक बात पर खास ध्यान आकर्षित किया जाता है। वह बात यह है कि मोक्ष जानेके लिए जो चौदह गुणस्थानोंका क्रम बतलाया गया है उनमें तेरहवें गुणस्थानमें आत्मा केवलज्ञान लाभ करता है। श्रीमद् राजचंद्रने इस बातको स्वीकार किया है कि मुझे अभी कुछ भव और धारण करना है और इसी प्रकार प्रसंग प्रसंग पर वे यह भी बतला आये हैं कि मुझे अभी पूर्णपदकी प्राप्ति नहीं हुई है। और यही बात हम पहले उस जगह भी कह आये हैं जहाँ उन्होंने यह कहा है कि वेदान्त और अन्य दर्शनोंसे श्रीजिनका कहा हुआ आत्म-स्वरूप बहुधा अविरोधी है। इसके सिवाय वे गुणस्थान-क्रमारोह करते हुए भी कहते हैं:-

जे पद श्रीसर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहिं पण ते श्रीभगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्यवाणी ते शुं कहे,
अनुभव गोचर मात्र रह्युँ ते ज्ञान जो।
अपूर्व अवसर क्यारे आवशे,
क्यारे थईशुं बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रंथ जो॥
ए परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान मैं,
गजा वगर ते हाल मनोरथ रूप जो;

तो पण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाए थाशुं तेह स्वरूप जो ।
अपूर्व अवसर० ॥

इसका भाव यह है कि सर्वज्ञ भगवान्ने जिस स्वरूपको अपने ज्ञानमें देखा, उसे वे स्वयं भी नहीं कह सके तब अन्य जनोंकी वाणी उसे कैसे कह सकती है। वह स्वरूप मात्र अनुभव-गोचर ही है। वह अपूर्व अवसर अब आयगा कि जब मैं बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ बनूँगा! इस परम पदकी प्राप्तिका मैंने ध्यान किया; परन्तु उसके करनेकी शक्ति न होनेके कारण इस समय तो वह केवल मनोरथ मात्र है । तब भी राजचंद्रके मनमें यह निश्चित है कि प्रभुकी आज्ञासे उस स्वरूपको मैं अवश्य प्राप्त कर सकूँगा—उस रूप हो सकूँगा ।

इस परसे स्पष्ट है कि उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि मुझमें पूर्ण आत्मावस्था प्रगट हो गई है। हाँ, इतना सत्य है और प्रसंग प्रसंग उनके कहे हुए वाक्योंसे भी यह बात जानी जाती है कि किसी खास सीमा तक उन्हें आत्म-स्वरूपका अनुभव हो गया था। उक्त पद्योंमें ही जो यह कह गया है कि 'अनुभव-गोचर मात्र रहुं ते ज्ञान जो' इसे ध्यानमें रख कर सब पद्योंका पृथक्करण किया जाय तो यह जाना जा सकता है कि उनका अन्तरंग-विश्वास इसी दिशामें था । अब इस बातके अन्वेषणकी आवश्यकता है कि उनका वह आत्म-स्वरूपका अनुभव किस सीमा तक था। और इसके लिए उनके विचारोंका अध्ययन ही सबसे अच्छा उपाय है ।

इस विषयमें जैनोंके प्रति खास आग्रह है कि वे श्रीमद् राजचंद्रके विचारों और उनके जीवनका अच्छी तरह अभ्यास करें। इसके बाद यदि उनका विश्वास हो जाय कि श्रीमद् राजचंद्रने भगवान् महावीर आदिके द्वारा कहे गये आत्म-स्वरूपको किसी खास हद तक प्राप्त कर लिया था तो उन्हें उचित है कि वे उन लोगोंको भी—जो कि जैन-दर्शनके सिद्धान्तोंसे अनभिज्ञ हैं—इस बातके समझानेका यत्न करें कि श्रीमहावीर आदि महात्माओं द्वारा कहा गया आत्म-स्वरूप इस कालमें भी प्राप्त किया जा सकता है; और इस बातके उदाहरण श्रीमद् राजचंद्र हैं। पर यह विश्वास नहीं होता कि इस प्रकार हमारे सौभाग्यका उदय होगा कि वर्तमान जैनसमाजको इस प्रकारकी बुद्धि सूझेगी। इसके बहुतसे कारण हैं। उनका उल्लेख इस निबंधके उपसंहारमें किया जायगा।

अब इस विषय पर कुछ लिखना उचित जान पड़ता है कि वर्तमानमें जो जैनमतमें अनेक मतमतान्तर हो गये हैं और उनके कारण भगवान् महावीर आदि महापुरुषों द्वारा प्ररूपण किये हुए मूल जैनमार्गसे जो जैनसमाज बहुत दूर पिछड़ गया है उसके पुनरुद्धारके सम्बन्धमें श्रीमद् राजचंद्रके कैसे विचार थे। इसके लिए पहले यह बात लिखना उपयोगी होगा कि वर्तमान जैनसमाजके प्रति उनके कैसे विचार थे। उन्होंने वर्तमान स्थितिका चित्र इस प्रकार खींचा है।

स्वपरका परम उपकार करनेवाले परमार्थ-स्वरूप सत्य धर्मकी-जय हो।

१ जैनधर्ममें आश्चर्य-कारक भेद पड़ गये हैं।

२ वह खंडित हो गया है—छिन्न-भिन्न हो गया है।

३ उसे पूर्ण करनेके साधनोंकी प्राप्ति बड़ी कठिन है।

४ उसकी प्रभावना होनेमें बड़े विघ्न हैं।

५ इसी प्रकार देश-काल आदि भी उसके बहुत प्रतिकूल हैं।

६ वीतरागियोंका मत लोगोंके प्रतिकूल हो गया है।

७ रूढ़िसे जो लोग उसे मानते हैं, नहीं जान पड़ता कि उनका भी उस पर विश्वास है या नहीं; अथवा वे अन्यमतको वीतराग-प्रणीत मत समझ कर उसमें प्रवृत्ति करते जाते हैं।

८ उनमें यथार्थ वीतराग-प्रणीत मार्गके समझनेकी बड़ी कमी है।

९ मोहका प्रबल राज्य है।

१० लोगोंने वेष आदिके व्यवहारमें बड़ी भारी विडम्बना करके मोक्ष-मार्गमें अन्तराय—विघ्न—उपस्थित कर दिया है।

११ तुच्छजन उसके विराधक बन कर मुखिया बनते हैं।

१२ उसका थोड़ा भी सत्य प्रकट होता है तो इन लोगोंको वह प्राण-घातके बराबर दुःख-कारक हो पड़ता है।

इस प्रकार श्रीमद् राजचंद्र जैनधर्मके पुनरुद्धारके सम्बन्धमें विघ्न मानते थे। ध्यानमें रखना चाहिए कि इन कारणोंको श्रीमद् राजचंद्रने अपनी प्राइवेट डायरीमें नोंद कर रक्खे हैं। इन कारणोंको डायरीमें लिख कर उन्होंने अपने आपसे प्रश्न किया है कि "तब तुम किस लिए धर्मके पुनरुद्धारकी इच्छा करते हो?" इस प्रश्नके उत्तरमें स्वयं ही उन्होंने उत्तर दिया है कि इच्छा परम करुणा-भावसे और सद्धर्मके प्रति परम भक्तिके वश होती है।

इस प्रकार श्रीमद् राजचंद्रकी जैनधर्मके पुनरुद्धार करनेकी प्रबल इच्छा थी; परन्तु इस विषयमें यह विचार करना उपयोगी होगा कि उनमें इस विषयके कार्य करनेकी शक्ति भी थी या नहीं। इतना तो सच है कि कोई मनुष्य जब किसी कामके करनेका विचार करता है उसमें ऐसी बुद्धि तब ही उत्पन्न होती है जब कि उस कार्यके करनेकी उसमें थोड़ी-बहुत शक्ति होती है। श्रीमद् राजचंद्रकी डायरीके देखनेसे जान पड़ता कि जैनधर्मके पुनरुद्धारके सम्बन्धमें किस प्रकारका प्रयत्न करना चाहिए, इस विषयमें उन्होंने जगह जगह अनेक प्रकारकी योजनायें और विचार प्रकट किये हैं। उनकी डायरीसे एक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है, उस परसे जाना जा सकेगा कि वे अपनेमें जैनधर्मके पुनरुद्धारकी शक्ति मानते थे। इसी प्रकार वे इस विषयमें भी विचार किया करते थे कि जैनमार्गका पुनरुद्धार 'दर्शन'-रूपसे किया जाय अथवा 'सम्प्रदाय'-रूपसे। मतलब यह कि उसे जनताके सामने अब दर्शनके रूपमें लाया जाय या सम्प्रदायके रूपमें। वह अंश यह है—

"जिनके द्वारा मार्गोंकी प्रवृत्ति हुई है उन महापुरुषोंमें विचार-शक्ति और निर्भयता आदि गुण भी महान् थे। एक राज्यके प्राप्त करनेमें जितने पराक्रमकी आवश्यकता पड़ती है उसकी अपेक्षा अपूर्व विचार-युक्त धर्म-परम्पराके प्रवर्तन करनेमें कहीं अधिक पराक्रमकी आवश्यकता है। इस प्रकारकी शक्ति यहाँ थोड़े समय पहले दिखाई पड़ती थी; परन्तु इस समय उसमें विकलता आ गई है। यह विचारने योग्य बात है कि इसका कारण क्या है। यह भी विचारने योग्य है कि इस कालमें धर्मकी प्रवृत्ति दर्शन-रूपसे जीवोंके लिए कल्याणका कारण होगी कि सम्प्रदाय-

रूपसे । जहाँ तक समझमें आता है जैनमार्गका सम्प्रदाय-रूपसे पुनरुद्धार करनेसे उसे अधिक जन ग्रहण कर सकेंगे; और दर्शन-रूपसे उद्धार करने पर उसे बहुत थोड़े—विरले—जन ही ग्रहण करेंगे । यदि यह माना जाय कि जिन भगवान्‌ने अपने अभिमत मार्गका निरूपण किया था तो यह असंभव है कि उन्होंने उसका निरूपण सम्प्रदायके रूपमें किया हो । कारण उसकी रचना साम्प्रदायिक-रूपसे होना कठिन है । और दर्शनके रूपमें उसका निरूपण करनेसे यह विरोध आता है कि वह बहुत थोड़े जीवोंका उपकार कर सकेगा । जो बड़े पुरुष हुए हैं वे पहलेसे ही अपने स्वरूपको समझ लेते थे और भावी बड़े कार्यके बीज तभीसे अव्यक्त-रूपसे बोते रहते थे । अथवा अपना आचरण ऐसा रखते थे जिसमें कोई प्रकारका विरोध न आता ।”

श्रीमद् राजचंद्रके इन विचारों परसे जान पड़ेगा कि वे अपनेमें जैन-मार्गके पुनरुद्धार करनेकी शक्ति मानते थे; और इसी कारण उन्होंने उक्त विचारोंमें जागृति दिखलाई है । यह बात कुछ तो ऊपर बतलाई जा चुकी है कि इस प्रकारके विचार उनमें कबसे उत्पन्न हुए; अब वही बात कुछ विस्तारके साथ यहाँ लिखी जाती है । उनके लेखोंका जो संग्रह जनताके सामने रक्खा गया है उसके देखनेसे जान पड़ता है कि उनमें इस प्रकारकी जिज्ञासा तो तबहीसे प्रकट हो गई थी जब कि उन्होंने 'बालबोध-मोक्षमाला' लिखी थी । क्योंकि उसमें उन्होंने जो 'सामान्य मनोरथ' लिखा है वह उनके इस महत्त्वाकांक्षाका प्रथम चिह्न है । तब यह प्रश्न सहज ही हो सकता है कि जब इतनी छोटी उंमरसे ही उनकी ऐसी महत्त्वाकांक्षा थी तब उन्होंने अपनी मृत्यु होने तक इस कामको क्यों

नहीं किया ? इसका खुलासा करना आवश्यक जान पड़ता है। यह ऊपर लिखा जा चुका है कि उनकी इच्छा तब तक इस कामके करनेकी न थी जब तक कि उनकी ऐसी दशा न हो जाय कि उनका आत्मोद्धारका प्रयत्न उनकी आत्म-दशाका घातक न हो। उनकी इच्छा तब ही इस कामके शुरू करनेकी थी जब कि उन्हें यह प्रतीत हो जाता कि उनका आत्मोद्धारका प्रयत्न उनकी आत्म-दशाका घातक न होगा। इसीके साथ यह भी लिखा जा चुका है कि उनका विश्वास था कि सर्व-संग-परित्याग किये ही ऐसे मार्गोद्धारका कार्य हो सकता है; और सर्वसंग-परित्याग तब ही करना उचित है जब कि सब प्रकारकी सांसारिक सम्पत्ति स्वयं ही प्राप्त की हो। इस प्रकार क्रम-पूर्वक इस उद्धारके काम करनेकी उनकी इच्छा थी, जिसके कि उन्होंने 'अव्यक्त' बीज बोये थे। बहुतसे लोगोंने उनसे इस बातके लिए प्रेरणा की थी कि वे अपने क्रम-पूर्वक काम करनेके निश्चयको छोड़ कर शासनके उद्धारका काम करें; परन्तु वे अपने निश्चय पर अटल बने रहे। इस बातके कुछ प्रमाण पेश किये जाते हैं कि कई लोगोंने ऐसे प्रयत्न किये थे कि जिनसे श्रीमद् राजचंद्र अपने निश्चयको छोड़ दें। एक जिज्ञासुने जब उन पर अधिक दबाव डाला तब उन्होंने सं० १९४७ पौष सुदी १० के अपने एक पत्रमें लिखा थाः—

"आप परमार्थके लिए जो परम आकांक्षा रखते हो वैसी ही यदि ईश्वरेच्छा हुई तो किसी अन्य अपूर्व मार्गसे वह पार पड़ सकेगी। भ्रान्तिके कारण जिनका लक्ष्य परमार्थकी ओर जाना दुर्लभ है उन भारतीय मनुष्योंके प्रति परम कृपालु परमात्मा परम कृपा करेंगे; परन्तु अभी यह नहीं जान पड़ता कि थोड़े समय तक उनकी ऐसी इच्छा हो।"

एक और उनके मित्रने इस विषयमें उनसे आग्रह किया था। उसका श्रीमद् राजचन्द्रने जो सविस्तर खुलासा किया है उस परसे उनके इस विषयमें जो मनोभाव थे उनका खूब स्पष्टीकरण हो जाता है। वह पत्र यह है—

आपने जो लिखा उसका भाव यह है कि "जैसा चलता आया है वैसा चलने दो, मेरे लिए उसमें प्रतिबंधका कोई कारण नहीं है।" इस पर मैं कुछ संक्षेपमें लिखता हूँ। उससे सब बातें ज्ञात हो जायँगी।

"हमें जैनदर्शनकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शन और वेदान्तकी दृष्टिसे केवलज्ञानका होना संभव है। मात्र जैनदर्शनमें जो केवलज्ञानका स्वरूप लिखा है उसका समझना कठिन पड़ जाता है। और वर्तमान कालमें जैनदर्शनने ही उसकी प्राप्तिका निषेध किया है, इस लिए उसके लिए तो प्रयत्न करना सफल ही नहीं हो सकता।

जैनधर्मके साथ हमारा विशेष सम्बन्ध रहा है, इस लिए उसका उद्धार हम जैसोंके द्वारा, हर प्रयत्नसे विशेषतया हो सकता है। क्योंकि उसके उद्धार करनेवालेके लिए इस बातकी आवश्यकता है कि उसने जैनधर्मका स्वरूप भली भाँति समझ लिया हो,—आदि————। वर्तमानमें जैनदर्शन इतना अधिक अव्यवस्थित अथवा विपरीत स्थितिमें देखनेमें आता है कि उसमेंसे मानों जिनभगवान्के————हैं; और लोग उसी मार्गका प्ररूपण करते हैं। बाह्य आडम्बर बहुत बढ़ा दिया गया है और अन्तरंग ज्ञानका एक प्रकार विच्छेद हीके जैसा हो गया है। वैदिक मार्गमें दो-सौ चारसौ वर्षोंमें कोई कोई महान् आचार्य हुए दिखाई पड़ते हैं कि जिनसे वैदिक मार्गका प्रचार बढ़ कर लाखों मनुष्य उसके

धारक हो गये । और साधारणतया उसमें कोई आचार्य तथा उसके जानकार विद्वान् होते भी रहते हैं । जैनधर्ममें बहुत वर्षोंसे ऐसा नहीं हुआ । और उसके धारकोंकी संख्या भी बहुत थोड़ी है । इसके सिवाय उसमें सैकड़ों ही भेद-प्रभेद हो रहे हैं । इतना ही नहीं, किन्तु मूलमार्गकी बात भी इन लोगोंके कानों तक नहीं पहुँचती और न इसके वर्तमान उपदेशकों—प्रवर्त्तकों–का ही लक्ष्य इस ओर है । जैनधर्मकी ऐसी स्थिति हो रही है । इसी कारण चित्तमें ये विचार उठा करते हैं कि यदि इस मार्गका प्रचार बढ़ सके तो वैसा करना चाहिए, अन्यथा उसके वर्तमान पालन करनेवालोंको उसके मूलमार्गकी ओर लगाना उचित है ।

यह काम बड़ा विकट है । इसके सिवाय जैनधर्मको स्वयं समझना तथा दूसरेको समझाना और भी कठिन है । दूसरोंको समझाते समय बहुतसे विपरीत कारण आकर उपस्थित हो जाते हैं । ऐसी स्थितिको देख कर उसमें प्रवृत्त होनेको जी नहीं चाहता—डरसा लगता है । इसीके साथ यह विचार भी आता है कि इस कालमें हमारे द्वारा कुछ कार्य हो सके तो हो सकता है; यह नहीं देख पड़ता कि मूलमार्गके सन्मुख होनेके लिए वर्तमानमें किसी दूसरेका प्रयत्न सफल हो । कारण यह कि प्रायः दूसरे लोग मूलमार्गको जानते नहीं हैं या उसका स्वरूप उनके ध्यानमें नहीं है । इसी प्रकार उसका उपदेश करनेके लिए परम श्रुतज्ञता आदि गुण होने चाहिए तथा कितने ही अन्तरंग गुणोंके होने की भी आवश्यकता है । यह दृढ़ प्रतीति होती है कि ऐसे कुछ गुण इस व्यक्तिमें हैं । इस प्रकार यदि मूलमार्गके उद्धार करनेकी आवश्यकता हो तो उस उद्धारका कार्य करनेवाले व्यक्तिको सर्व-संगका परित्याग करना उचित है; क्योंकि ऐसा करने पर ही

सच्चे उपकार करनेका मौका मिल सकता है। वर्तमान दशा तथा हाथ नीचेके कार्योंकी जोखमदारीको देखते हुए कुछ समयके बाद सर्व-संग परित्यागका अवसर मिलना संभव है। हमें अपने सहज स्वरूपका ज्ञान है। इस कारण योग-साधनकी उतनी अपेक्षा न होनेसे हमने उस ओर अपनी प्रवृत्ति नहीं की। परन्तु उस योगको सर्व-संग-परित्याग अथवा विशुद्ध देशत्यागकी ओर लगाना उचित जान पड़ता है। इससे लोगोंका बहुत उपकार होना संभव है; यद्यपि वास्तविक उपकारका कारण तो आत्म-ज्ञानको छोड़ कर और कुछ नहीं हो सकता।

अभी दो वर्ष तक तो ऐसा अवसर नहीं देख पड़ता कि जिसमें वह योग-साधन विशेषतया उदयमें आ सके। इसके बाद उसके प्राप्त होनेकी संभावना की जाती है। इस मार्गमें तीन चार वर्ष बिताये जायँ तब कहीं सर्व-संग-परित्यागी उपदेष्टा बननेकी योग्यता प्राप्त की जा सकती है और तब ही लोगोंका कल्याण हो सकता है। छोटी उमरमें मार्गके उद्धार करनेकी बड़ी जिज्ञासा रहा करती थी। इसके बाद जब कुछ कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ तब क्रम-क्रमसे वह जिज्ञासा शान्तसी होती गई। परन्तु इधर जो कुछ लोगोंका सम्बन्ध हुआ तो उन्हें मूलमार्गमें कुछ विशेषता दिखाई पड़नेके कारण उन्होंने उसकी ओर अपना लक्ष्य भी दिया। इसके बाद जो अब सैकड़ों तथा हजारों लोगोंसे सम्बन्ध हुआ तो जान पड़ा कि उनमें बहुतसे ऐसे मनुष्य निकल सकते हैं जो समझदार हैं और सच्चे उपदेश पर आस्था रखनेवाले हैं। इस परसे यह जान पड़ता है कि लोग (संसार-सागरसे) तैरनेके तो बड़े इच्छुक हैं पर उन्हें वैसा योग नहीं मिलता। जो वास्तवमें सच्चे उपदेशकका योग मिले तो निस्सन्देह बहुतसे प्राणी मूलमार्ग-

को प्राप्त कर सकते हैं; और दया आदिका बहुत उद्योत हो सकता है। इस स्थितिके देखनेसे चित्तमें विचार उठते हैं कि कोई इस कामको करे तो बहुत ही अच्छा हो; परन्तु दृष्टि देनेसे ऐसा कोई पुरुष दिखाई नहीं पड़ता जो इस कामको कर सके। दृष्टि इस कामके लिए लेखकको कुछ योग्य समझती है; परन्तु इसका तो जन्मसे ही यह लक्ष्य रहा है कि इसके जैसा जोखम भरा एक भी काम नहीं है और इस लिए जहाँ तक स्वयं इस कार्यके करनेकी योग्यता न आ जाय तब तक इसकी इच्छा मात्र भी करना उचित नहीं है। और बहुधा करके अब तक इसी प्रकारकी प्रवृत्ति की गई है। मूलमार्गका थोड़ा-बहुत स्वरूप कुछ लोगोंको समझाया है; तथापि किसीको भी एक व्रत तथा प्रत्याख्यान—त्याग--धारण नहीं कराया और न किसीसे यह कहा कि तुम हमारे शिष्य हो और हम तुम्हारे गुरु हैं। कहनेका मतलब यह है कि सर्व-संग-परित्याग किये बाद सहज स्वभावसे ही इस कार्यमें प्रवृत्ति हो तो इसे करना; और ऐसी ही मनोभावना है।

इस प्रवृत्तिके लिए कोई खास आग्रह नहीं है। मात्र अनुकम्पा तथा ज्ञान-प्रभावके कारण यह वृत्ति जाग्रत हो जाती है। अथवा कुछ अंशमें यह वृत्ति अंगमें विद्यमान भी है; तथापि विश्वास है कि वह अपने वशमें है। इसी प्रकार सर्व-संग-परित्याग आदि गुण हों तो हजारों मनुष्य मूलमार्गको प्राप्त कर सकते हैं और हजारों इस श्रेष्ठ मार्गकी आराधना करके सद्गति लाभ कर सकते हैं। यह हमसे बनना संभव भी है। हममें वह त्याग शक्ति भी है जिसे देख कर हजारों प्राणी हमारे साथ साथ त्याग-वृत्ति धारण कर सकते हैं। धर्म-स्थापन करनेका मान बहुत बड़ा

है और बहुत संभव है कि उस मानकी इच्छासे भी कभी ऐसी वृत्ति हो सकती है; परन्तु इसकी परीक्षाके लिए आत्माको हमने बहुत बार तपा कर देखा तो जान पड़ा कि उस मानका होना ऐसी दशामें बहुत कम संभव है; और यह दृढ़ विश्वास है कि सत्तामें वह कुछ होगा भी तो नष्ट हो जायगा। आत्मामें यह निश्चय है कि यदि शरीरके नष्ट हो जानेका विश्वास भी हो जाय तब भी बिना पूर्ण योग्यता प्राप्त किये मूल-मार्गका कभी उपदेश न करना। इसी एक बलवान् कारणसे परिग्रहा-दिके त्याग करनेका विचार उठा करता है। मुझे यह विश्वास है कि यदि वैदिक धर्मका प्रचार करना हो या उसकी स्थापना करनी हो तो मेरी यह दशा उस कामके योग्य है; परन्तु जिनप्रणीत मार्गके स्थापन करनेकी योग्यता अभी मुझमें नहीं है; तथापि जो भी कुछ योग्यता है, इतना अवश्य है, कि वह कोई खास प्रकारकी योग्यता है।"

"हे नाथ, या तो धर्मोन्नतिके विचार सहज ही शान्त हो जायँ या वे कार्यमें अवश्य ही परिणत हों। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उनका कार्य-रूपमें परिणत होना बहुत ही दुष्कर है। क्योंकि छोटी छोटी बातोंमें लोगोंका बड़ा मत-भेद है और उनका मूल बहुत ही गहरा चला गया है। लोग मूलमार्गसे लाखों कोस दूर पड़ गये हैं, इतना ही नहीं किन्तु उनमें मूलमार्गकी जिज्ञासा उत्पन्न करना भी अब बहुत कालकी अपेक्षा रखता है, इस लिए कि दुराग्रह आदिके कारण उनकी दशा जड़-प्रधान हो रही है।"

\+ + + + + + + + +

इन उन्नतिके साधनोंका स्मरण करता हूँ—

ज्ञान-बीजके स्वरूपका निरूपण मूलमार्गके अनुकूल स्थान स्थान पर हो।

स्थान स्थान पर इस बातका प्रचार हो कि मत-भेदसे कुछ कल्याण नहीं हो सकता।

लोगोंके ध्यानमें यह बात आवे कि प्रत्यक्ष सद्गुरुकी आज्ञा ही धर्म है।

द्रव्यानुयोग—आत्म-विद्या-का प्रकाश हो।

साधुजन त्याग-वैराग्यमें विशेषतया भाग लें।

नव तत्त्वका प्रकाश हो।

साधु-धर्मका प्रकाश हो।

श्रावक-धर्मका प्रकाश हो।

विचारशीलता फैले।

सब जीवोंको इन बातोंकी प्राप्ति हो।

सं० १९४८ सावन विदी १४ के एक पत्रमें उन्होंने लिखा था:—

"जब तक हमारा यह उपाधि-योग दूर न हो जायगा तब तक हमने इस विषयमें मौन रहना या उस पर कुछ विचार न करना ही उचित समझा है कि किस प्रकारके सम्प्रदायको परमार्थका कारण कहना। अर्थात् इस प्रकारके विचार करनेमें हमारी बड़ी उदासीनता है।" श्रीमद् राजचंद्रने इसी प्रकारका उत्तर कई जगह दिया है। इतना ही नहीं, किन्तु उनका यह प्रयत्न था कि जहाँ तक बन पड़े लोगोंसे परिचय भी न बढ़ाया जाये। वे अपने स्नेही जनोंसे यह कहते रहते थे कि मेरा नाम, स्थान आदि किसीको न बताया जाय; और इसी प्रकार लिखते रहते थे। सं० १९४७ माघ विदी सप्तमीके एक पत्रमें उन्होंने लिखा था कि "चाहे कोई मुमुक्षु हो उसे मेरा नाम आदि कोई बात न बतलाना। इस

समय इसी हालतमें रहना मुझे बहुत पसंद है।....और आपने जो दूसरोंको मेरा पता लिख कर मुझे प्रसिद्ध करनेका यत्न किया; परन्तु वह मुझे पसन्द नहीं । इसके लिए मुझे प्रकट-रूपमें प्रतिबंध करना ठीक नहीं जान पड़ता।"

दूसरे उनके एक पत्रसे जान पड़ता है कि तब तक उनकी इच्छा धर्म-मार्गके उद्धारार्थ प्रवृत्त होनेकी न थी जब तक उनमें उनकी इच्छानुसार आत्मावस्था प्रकट न हो जाय। इसी प्रकार वे यह भी नहीं चाहते थे कि उनके नाम, स्थान आदिकी प्रसिद्धि हो। इस पत्रमें उन्होंने लिखा था कि "हम जब तक अपनेमें अभिन्न हरिपद (आत्म-पद) का लाभ न प्राप्त कर लेंगे तब तक 'स्वयं' मार्गका उपदेश न करेंगे; और तुम भी, हमें जो लोग जानते हैं उनके सिवाय अन्य किसीको हमारा नाम, गाँव, स्थान आदि न बतलाना।"

सं० १९५० असाढ़ सुदी १५ के एक पत्रमें उन्होंने लिखा था कि "तुम्हारे वहाँ आनेसे अधिक लोगोंके साथ सम्बन्ध बढ़ना संभव है, इस कारण उधर आनेके लिए चित्त नहीं होता।"

एक बार भावनगर-निवासी एक सज्जनने श्रीमद् राजचंद्रको भावनगर आनेके लिए लिखा था । उसका उत्तर देते हुए उन्होंने १९५१ में एक पत्रमें लिखा था:—

"लोगोंके साथ व्यापार आदिका सम्बन्ध रहते हुए धर्म-प्रसंगके बहाने कहीं जाना-आना अनुचित जान पड़ता है । इस कारण मनमें यह बात विशेषतया रहा करती है कि जैसे बने तैसे धर्मके द्वारा होनेवाले सम्बन्धसे सदा दूर ही रहना अच्छा है। किन्तु ऐसा सत्संग या ऐसे ही

शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे वैराग्य और शक्तिका बल बढ़े। जीवके लिए यही परम हितकारी है। इसके सिवाय अन्य सम्बन्धके छोड़नेका यत्न करना चाहिए।"

"विशेष विनती यह है कि आपका पत्र मिला। आपने जो भावनगर आनेके लिए मुझे लिखा उस विषयमें मेरी स्थिति नीचे लिखे अनुसार है। मेरा बाह्य व्यवहार लोगोंको भ्रम पैदा करनेवाला है; और इस अवस्थामें रह कर एक बलवान् निर्ग्रंथके जैसा उपदेश करना यह उस मार्गके साथ विरोध करनेके जैसा है। और यही सोच कर तथा इसी प्रकारके अन्य कई कारणों पर विचार कर ऐसी स्थितिमें– जो लोगोंको सन्देहका कारण हो जाय–मेरा आना नहीं हो सकता। कभी किसी समागमके अवसर पर कुछ स्वाभाविक उपदेश देने-रूप प्रवृत्ति हो जाती है; परन्तु उसमें भी चित्तकी इच्छित प्रवृति नहीं होती। पहले यथावस्थित विचार किये विना जीवने जो प्रवृत्ति की उसीके कारण इस प्रकारके व्यवहारका उदय आया है; और इसके लिए चित्तमें बड़ा खेद रहता है। परन्तु यह जान कर कि प्राप्त स्थितिको समभावोंसे भोगना उचित है, ऐसी ही वृत्ति रहा करती है। इस व्यापारादिके उदय-व्यवहारसे जो जो सम्बन्ध होते हैं उनमें परिणामोंकी प्रवृत्ति प्रायः अलिप्त-सी रहती है; कारण उनमें सारभूत कुछ नहीं जान पड़ता। परन्तु धार्मिक व्यवहार-प्रसंगमें ऐसी प्रवृत्ति–व्यापारादि–करना अच्छा नहीं जान पड़ता। और यदि किसी दूसरे आशयका विचार कर–लोक-हितकी कामना आदिके वश–प्रवृत्ति की जाय तो वर्तमानमें मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है। और इसी कारण ऐसे प्रसंगों पर मेरा आना-जाना बहुत ही कम होता है। इसके सिवाय न इस समय

इस निश्चयको बदल देनेका ही मन होता है। इतने पर भी उधर आनेके प्रसंगके संबधमें मैंने कुछ विचार किया था; परन्तु अपने उक्त निश्चयको बदल देनेसे अन्य कई विषम कारणोंको उपस्थित देख कर उसके बदल देनेकी वृत्तिको शान्त कर देना ही योग्य जान पड़ा। इसके सिवाय अन्य और भी कई ऐसे विचार मनमें समा रहे हैं जिससे मैं नहीं आ सकता। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए लोक-व्यवहारके कारणोंके उपस्थित होने पर भी मैंने अपने आनेका विचार छोड़ दिया है। मैंने अपने आने न आनेके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है प्रार्थना है कि वह किसीके सामने प्रगट न किया जाय तो अच्छा है।"

इस प्रकार कई लोगोंने श्रीमद् राजचंद्र पर परमार्थ मार्गके उद्धारार्थ काम करनेके लिए समय समय पर दबाव डाला था; परन्तु उन्होंने–परमार्थके उद्धारकी संभावना रहने पर भी–तब तक इस विषयमें हाथ डालनेके लिए इन्कार ही करना उचित समझा जब तक कि उनकी अन्तिम वृत्ति उनकी इच्छाके अनुसार संयोगोंको प्राप्त न करले। इस पर विचार करने पर कि इसका कारण क्या होगा, उनकी प्राइवेट डायरीमें नीचे लिखे अनुसार प्रश्नोत्तरके रूपमें लिखा हुआ मिलता है। उसमें लिखा है:—

"परानुग्रह और परम कारुण्य-वृत्ति करनेके पहले तू चैतन्य जिन-प्रतिमा बन!–चैतन्य प्रतिमा बन!

कैसा काल है?

इस विषयमें विकल्प छोड़!

चैसा क्षेत्र-योग है?

ढूँढ़!

चैसा पराक्रम है?

अप्रमादी शूरवीर बन!

उतना आयुर्बल है?

इस विषयमें क्या लिखें? क्या कहें?

अपने भीतर देख!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।"

श्रीमद् राजचंद्रके लेखोंका जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसके संशोधकने इन प्रश्नोंका जो खुलासा किया है उस परसे बहुत प्रकाश पड़ता है। इनका पृथक्करण करते हुए संशोधक महाशयने लिखा है कि "परानुग्रह-रूप परम कारुण्य-वृत्ति करनेके पहले तू चैतन्य जिन-प्रतिमा बन!" इसका आशय यह है कि अन्य जीवों पर अनुग्रह रूप—मार्गके उद्धार करने रूप—परम करुणा-वृत्ति करनेके पहले तू स्वयं जिन प्रभुकी चैतन्य प्रतिमाके जैसी—साक्षात् जिनके जैसी—अटल-अचल दशा प्राप्त कर। उन्होंने अपने उस वाक्यमें 'चैतन्य जिन-प्रतिमा बन' इस वाक्यका दो बार प्रयोग किया है वह विशेष उल्लासका सूचक है। इस विषय पर नीचे विचार किया जाता है कि पहले स्वयं जिनके जैसी अटल-अचल दशा प्राप्त करने और बाद परानुग्रह करनेके लिए अनुकूल साधन हैं या नहीं। उनकी समझमें इस विषयके चार साधन जान पड़े; पर वे साधन प्राप्त हैं या नहीं, इस विषयमें उन्होंने अपने आपहीसे पूछा है;

और फिर स्वयं ही उनका उत्तर दिया है। विचार करनेसे जान पड़ेगा कि जब तीन प्रश्नोंका उत्तर उन्होंने 'हाँ'के रूपमें दिया तब चौथे प्रश्नका उत्तर न 'हाँ'के रूपमें दिया है और न 'ना'के रूपमें; किन्तु वह गुप्त रूपमें है। पहला प्रश्न किया गया है कि "वैसा काल है?" इसका आशय यह जान पड़ता है कि इस प्रश्नके द्वारा उन्होंने यह बात पूछी है कि "परानुग्रह" और "जिनके जैसी अटल-अचल दशा"के लिए यह 'काल' योग्य है? इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि "इस विषयमें विकल्पोंको छोड़"। इससे उनका आशय यह जान पड़ता है कि इसके लिए वर्तमान काल निर्विकल्प है–यह काल इस विषयका बाधक नहीं है। दूसरा प्रश्न किया है कि "वैसा क्षेत्र-योग है?" इसका यह अभिप्राय जान पड़ता है कि इच्छित स्थितिके लिए क्षेत्र अनुकूल है या नहीं। इसका उन्होंने उत्तर दिया है कि "ढूँढ़"। इससे सहज ही कहा जा सकता है कि उन्हें वर्तमान क्षेत्र प्रतिकूल नहीं जान पड़ा था। तीसरा प्रश्न किया है "वैसा पराक्रम है?" इस प्रश्नसे उनका मतलब यह जान पड़ता है कि ऐसी स्थितिके प्राप्त करने योग्य अपनेमें शक्ति है या नहीं। इसका उत्तर उन्होंने दिया है "अप्रमत्त शूरवीर बन।" उनके इस उत्तरसे यह सूचित होता है कि प्रमत्त भावोंके दूर करने-रूप शूरवीरता प्राप्त करे तो तुझमें 'पराक्रम'भी मौजूद है। दो प्रश्नोंके उत्तरकी भाँति इस तीसरे प्रश्नका उत्तर भी उन्होंने 'हाँ' कह कर दिया है। चौथा प्रश्न उन्होंने किया है "इतना आयुर्बल है?" इस प्रश्नसे उनका मतलब यह जान पड़ता है कि वे मनमें विचार करते हैं कि अपनी वांछित स्थिति प्राप्त करनेके जितना मुझमें आयुर्बल है या नहीं। इस प्रश्नका उन्होंने उत्तर दिया

है कि "इस विषयमें क्या लिखें ? क्या कहें ? इसके लिए उपयोग लगा कर अपने भीतर देख"। इस परसे यह नहीं कहा जा सकता कि उनका यह उत्तर 'हाँ' के रूपमें है या 'ना' के रूपमें। कुछ कहा जा सकता है तो वह इतना ही कि उनका यह उत्तर गुप्त-स्थितिमें है। जो यह पृथक्करण सत्य हो तो इसका सार यह निकला कि पहले तीन प्रश्नोंका उत्तर 'हाँ' के रूपमें है और चौथे आयुर्बल-सम्बन्धी प्रश्नका उत्तर गुप्त-स्थितिमें है–उन्हें अपनी आयुकी स्थितिमें सन्देह था। तब इस परसे यह अच्छी तरह जाना जा सकता है कि उन्होंने शासनोद्धारका काम किन किन कारणोंसे हाथमें नहीं लिया था।

अब कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो वर्तमान जैनसमाजका ध्यान खींच रहे हैं। उनके विषयमें कुछ स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीति होता है कि उनके सम्बन्धमें श्रीमद् राजचंद्रके क्या अभिप्राय थे। पहले इस बातका खुलासा किया जाता है कि श्वेतांबर तथा दिगम्बर सम्प्रदायके सम्बन्धमें उनके क्या विचार थे; तथा श्वेतांबर जिन आगमोंको मानते हैं उन्हें जो दिगम्बर लोग नहीं मानते इस विषयमें उनके क्या अभिप्राय हैं।

सं० १९५२ भादों विदी अमावसके लिखे हुए एक पत्रमें उन्होंने इन दोनों प्रश्नोंके सम्बन्धमें लिखा था–"शरीरादिकी शक्ति घट जानेके कारण सब मनुष्य दिगम्बर-वृत्तिके अनुसार प्रवृत्ति कर चारित्रका निर्वाह नहीं कर सकते। इस कारण वर्तमान कालमें जो ज्ञानी पुरुषोंने चारित्रके निर्वाहके लिए समर्याद श्वेतांबर-वृत्तिका उपदेश किया है उसका निषेध करना उचित नहीं है। इसीके साथ यह भी कर्त्तव्य नहीं है कि वस्त्र रखनेके आग्रहके वश दिगम्बर-वृत्तिका एकान्तसे निषेध कर, वस्त्र आदिमें

मूर्च्छा कर चारित्रमें शिथिलता लादी जाय। दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दोनों ही वृत्तियाँ देश, काल और अधिकारीके विचारसे उपकारहीकी कारण है। मतलब यह कि ज्ञानियोंने जहाँ जैसा उपदेश किया है उसके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे वह आत्माके हितके लिए ही है। 'मोक्षमार्ग प्रकाश' में वर्तमान जिनागमोंका—जिन्हें कि श्वेतांबर सम्प्रदाय मानता है—जो निषेध किया गया है, वह ठीक नहीं है। वर्तमान आगमोंमें कुछ स्थान अधिक सन्देह-जनक हैं; परन्तु सत्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेसे उनका समाधान हो सकता है। इस लिए उपशम-दृष्टिसे आगमोंके अवलोकन करनेमें संशय करना ठीक नहीं है।"

यह बात नहीं है कि श्रीमद् राजचंद्रके गुणोंमें अनुराग होनेसे यह बात कही जाती हो; परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसा कहनेके लिए बाध्य करती है कि जबसे जैनशासनमें श्वेतांबर और दिगम्बर ऐसे दो भेद पड़े हैं तबसे दोनों ही सम्प्रदायोंके किसी भी ग्रन्थकारका ऐसा साम्य स्वरूप लिखा हुआ जैनइतिहासमें देखनेमें नहीं आता। दोनों सम्प्रदायोंके उपदेशक अपनी अपनी रक्षामें ही प्रायः निरत रहे हैं। जहाँ तक अभ्यास और विचार किया है तो उससे यही जान पड़ता है कि डेढ़-दो हजार वर्षोंमें यह पहला ही उदाहरण है जिसमें दोनों ही सम्प्रदायोंकी मान्यताकी इस प्रकार निष्पक्षपात बुद्धिसे जाँच की गई हो। और जो श्वेतांबर जिन आगमोंको मानते हैं दिगम्बर उन्हें कल्पित बतलाते हैं, जान पड़ता है दिगम्बरोंकी इस मानताके कारण ही दिगम्बरी पंडित श्रीयुत टोडरमलजीने वर्तमान श्वेतांबर-मान्य आगमोंका निषेध किया है। परंतु श्रीमद् राजचंद्रको पंडितजीका वह निषेध योग्य नहीं जान पड़ा।

ज्ञान और क्रिया।

आत्मत्व लाभ करनेके लिए ज्ञान और क्रिया ये दो मुख्य साधन हैं। इनमें श्रीमद् राजचंद्रको वर्तमान जैनसमाजमें ज्ञानकी बहुत ही कमी दिखाई दी। इसीके साथ उन्होंने यह भी देखा कि उसमें जो कुछ क्रियायें की जाती हैं वे उनका मूल उद्देश समझे बिना तथा उनके यथार्थ स्वरूपका अनुसरण किये बिना ही की जाती हैं। श्रीमद् राजचंद्रने इस विषय पर जैन-समाजका समय समय पर ध्यान खींचा है। वे चाहते थे कि ज्ञान और क्रिया ये दोनों युग-पद होने चाहिए। जो ज्ञान हो और क्रिया--आचरण--न हो तो वह ज्ञान शुष्क ज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार क्रिया हो और ज्ञान न हो तो वह क्रिया शुष्क क्रिया है। श्रीमद् राजचंद्रने उस समय जैनसमाजकी प्रायः ऐसी ही स्थिति देख कर इस विषयमें जैनसमाजका ध्यान खींचनेका यत्न किया था; परन्तु दुःख है कि लोगोंने उनके इस प्रयत्नकी कदर नहीं की; और श्रीमान् प्रबल आत्मज्ञानी आनन्दघनजी महाराजके जैसा उन्हें भी कुछ लोगोंकी अश्रद्धाका भाजन बनना पड़ा। आनन्दघनजी महाराज आध्यात्मिक विषयके बड़े अनुभवी विद्वान् थे। उनका अध्यात्मकी ओर लक्ष्य देख कर उनके समयके कुछ लोगोंने यह मान लिया था कि वे तो क्रिया-कांडका उत्थापन करते हैं; और इसी प्रकार कितने लोगोंने उनका चित्र भी इसी भाँति चित्रित करनेका प्रयत्न किया था कि आनन्दघनजी क्रिया-कांडके निषेधक थे। ठीक यही हालत श्रीमद् राजचंद्रके विषयकी है। कितनी ही बार उनके सम्बन्धमें भी ऐसी ही बातें होती हुई देखी गई हैं कि जिन्हें देख कर अत्यन्त दुःख होता है। जिन्हें अपने कुलधर्मके सवाल-कोंमें ही ममत्व हो गया है वे बेचारे तो वैसा ही झटसे मान लेते हैं

जैसा उनके संचालक उन्हें श्रीमद् राजचंद्रके विषयमें समझा देते हैं। वे नहीं जानते कि लोग उनके विषयमें जो कुछ उलटी-सीधी बातें सुझा रहे हैं वे या तो चिर-प्ररूढ़ संस्कारोंके वश होकर सुझा रहे हैं या उन्हें इस बातका भय है कि कहीं उनकी प्रतिष्ठामें कमी न आ जाय। जिन्होंने श्रीमद् राजचंद्रके विचारोंका अवलोकन किया है उन्हें विश्वास होगा कि श्रीमद् राजचंद्रका पूर्ण उपदेश ही यह था कि ज्ञान और क्रिया ये दोनों ही साथ साथ होने चाहिए। और इसी कारण जिस प्रकारके संस्कार आनन्दघनजीमें थे उसी प्रकारके संस्कार श्रीमद् राजचंद्रमें भी किसी किसी जगह देखे जाते हैं। इसे देख कर लोग जो श्रीमद् राजचंद्रका चित्र अन्यथा-रूपसे चित्रित करते हैं विश्वास है कि उससे श्रीमद् राजचंद्रके आत्माका न तो कुछ नुकसान हुआ है और न होनेका ही है; किन्तु ऐसा करनेसे जो नुकसान होता है वह इस प्रकारके प्रयत्न करनेवालोंके आत्माका और उन धर्म-सञ्चालकोंके समाजका ही होता है। कारण इस बातसे सब अच्छी तरह परिचित हैं कि हमारी पुरानी पद्धति कुछ ऐसी है कि उसके द्वारा धर्मके संस्कार इस नये जमानेके लोगोंको ग्राह्य नहीं कराये जा सकते। इसके लिए श्रीमद् राजचंद्रकी शैली बहुत श्रेष्ठ है। उससे उन लोगोंके हृदयमें भी धर्मके संस्कार प्ररूढ़ हो जाते हैं जो पाश्चात्य जड़वादके खूब अभ्यासी हैं।

विषय बहुत बढ़ गया है, इस लिए अब श्रीमद् राजचंद्रके लेखोंके अंश उद्धृत करना उचित नहीं जान पड़ता; परन्तु हाँ, इस जगह उस महापुरुषके सम्बन्धके पत्रों पर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना बहुत प्रासंगिक होगा कि जिसने भारतीयोंके अमानुषिक दुःखोंकी मुक्तताके लिए स्वयं दुःख

सहन कर दक्षिण आफ्रिकामें सत्याग्रहकी लड़ाई लड़ी है। महात्मा गाँधीके सम्बन्धके उन पत्रोंको–जिन्हें श्रीमद् राजचन्द्रने गाँधीजी पर लिखा था–पढ़नेके लिए साग्रह निवेदन है।

वे पत्र ये हैं—

"आत्म-हितैषी, गुणग्राही और सत्संग-योग्य श्रीयुत भाई............

जीवनमुक्त-दशाकी इच्छा करनेवाले राजचंद्रका आत्म-स्मृति-पूर्वक यथायोग्य। यहाँ कुशल है। तुम्हारा पत्र मुझे मिला। कुछ कारणोंसे उसके उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया। इसके बाद जान पड़ा कि तुम शीघ्र ही इधर आनेवाले हो, इस कारण फिर मुझे पत्र देनेकी कोई विशेष आवश्यकता भी न जान पड़ी। परन्तु हालहीमें ज्ञात हुआ कि ऐसे कई कारण उपस्थित हैं जिनसे लगभग एक वर्ष तक अभी ओर तुम्हें उधर ठहरना होगा। इस लिए अब मुझे पत्र लिखना आवश्यक जान पड़ा; और इसी कारण मैंने यह पत्र लिखा है। तुम्हारे पत्रमें जो आत्मा आदिके सम्बन्धके प्रश्न किये गये हैं और उनके जाननेकी जो तुम्हारे मनमें विशेष उत्कंठा है इन दोनों बातोंके प्रति मेरा स्वाभाविक अनुमोदन है। परन्तु जिस समय तुम्हारा पत्र मुझे मिला था उस समय मेरे चित्तकी ऐसी स्थिति नहीं थी कि मैं उसका उत्तर दे सकूँ। और बहुत करके इसका कारण यह था कि उस समय परिणामोंमें बाह्य उपाधिके प्रति अधिक वैराग्य हो गया था। इस कारण यह शक्य न था कि उस पत्रके उत्तर देनेकी ओर मेरी प्रवृत्ति होती। विचारा था कि थोड़े समय-बाद इस वैराग्यसे कुछ अवकाश ग्रहण कर तुम्हारे पत्रका उत्तर लिखूँगा। परन्तु फिर यह भी अशक्य हो गया। और वह यहाँ तक कि तुम्हारे

पत्रकी पहुँच तक मैं न दे सका। इस प्रकार पत्रके उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया। इससे मुझे खेद हुआ, और उसकी भावना अब तक भी मनमें बैठी हुई है। इसी मौके पर यह सुननेमें आया कि तुम्हारी बहुत शीघ्र इस ओर आनेकी इच्छा है। इससे चित्तमें कल्पना उठी कि पत्रका उत्तर देनेमें जो विलम्ब हुआ वह तुम्हारे समागमका कारण होनेसे एक तरह लाभकारक ही होगा। क्योंकि तुम्हारे पत्रमें कितने ही ऐसे प्रश्न थे जिनका लिख कर समाधान कर देना कठिन था। और जो इतने दिनों तक पत्रका उत्तर न मिलनेसे तुम्हारे हृदयमें एक प्रकारकी आतुरता बढ़ी होगी वह इसके लिए एक अच्छा कारण है कि तुम्हारा समागम जल्दी होगा और उसमें सब प्रश्नोंका उत्तर बहुत शीघ्र समझाया जा सकेगा। अब यह इच्छा रख कर, कि जब भाग्यसे तुम्हारा समागम होगा तब कुछ विशेष ज्ञानविषयक चर्चा-वार्ता करनेका अवसर मिल सकेगा, तुम्हारे प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर लिखता हूँ। जिन प्रश्नोंका समाधान करनेके लिए निरंतर उसी विषयके विचारोंके परिशीलनकी आवश्यकता है उनका उत्तर मैं संक्षेपमें लिख रहा हूँ। अतः बहुत संभव है कि कितने ही प्रश्नोंका समाधान करना मौके पर कठिन भी पड़े; तब भी मेरे चित्तमें जो यह बात समा रही है कि मेरे वचनों पर तुम्हारा कुछ अधिक विश्वास रहनेके कारण तुम्हें बहुत धीरज रहेगा और इस तरह वे इन प्रश्नोंके उचित समाधानके कारण बन सकेंगे। तुमने अपने पत्रमें २७ प्रश्न पूछे हैं, उनका संक्षिप्त उत्तर नीचे लिखा जाता है।

१ ला प्रश्न—"आत्मा क्या चीज है? वह क्या कर्ता है? और उसके कर्मोंका बंध होता है या नहीं?"

उत्तर—(१) जिस भाँति घट-पट आदि वस्तुयें जड़ हैं उसी भाँति आत्मा ज्ञान-स्वरूप है। घट-पट आदि अनित्य हैं, वे त्रिकाल एक स्वरूपसे नहीं रह सकते। और आत्मा त्रिकाल एक स्वरूपसे रहता है, इस लिए कि वह नित्य है । 'नित्य' उसे कहते हैं जिसकी किसी संयोगसे उत्पत्ति न हो सके। यह नहीं दिखाई पड़ता कि आत्मा किसी प्रकारके संयोगोंसे पैदा होता है । कारण जड़ वस्तुओंके—चाहे जैसे-हजारों ही संयोग क्यों न किये जायँ तब भी यह कभी संभव नहीं कि उनसे चैतन्यकी उत्पत्ति हो सके। इस बातका सभीको अनुभव हो सकता है कि जो धर्म—स्वभाव—पदार्थमें नहीं होता वह धर्म या स्वभाव हजारों ही प्रकारके संयोगोंके इकट्ठा करने पर भी उस पदार्थमें कभी नहीं आ सकता कि जिसमें वह नहीं है। जिन घट-पटादि पदार्थोंमें ज्ञान-स्वरूप नहीं देखा जाता उनके नाना प्रकारके परिणामान्तर—अवस्थान्तर—द्वारा कितने ही संयोग किये गये हों अथवा ऐसे संयोग अपने आप हुए हों, पर वे होंगे उसी जातिके अर्थात् जड़-स्वरूप ही; ज्ञान-स्वरूप न होंगे। तब यह सिद्ध हुआ कि आत्मा-जिसका कि ज्ञानीजन मुख्य लक्षण ज्ञान-स्वरूप बतलाते हैं-इन जड़ पदार्थोंके संयोगों द्वारा अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदिके द्वारा किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता। आत्माका मुख्य लक्षण ही 'ज्ञान-स्वरूप' है; और जिसमें यह न पाया जाय—ज्ञान-स्वरूपका जिसमें अभाव हो—वह अभाव जड़का मुख्य लक्षण है; जड़ और चेतनके ये दोनों अनादि स्वभाव हैं । ऊपर जिस प्रमाण द्वारा आत्मा नित्य सिद्ध किया गया है वह तथा उसके सिवाय और भी अनेक ऐसे प्रमाण हैं जो आत्माको 'नित्य' सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार जरा

ओर गहरा विचार करने पर आत्माकी नित्यता सहज ही अनुभवमें आने लगती है। इस बातके मान लेनेमें कोई दोष या बाधा नहीं आती, बल्कि सत्यको स्वीकार करना है कि सुख-दुःखादिके भोगने-रूप, उनसे छूटने-रूप, विचार करने-रूप तथा प्रेरणा-रूप आदि भाव जिसके अस्तित्वके कारण ही अनुभवमें आते हैं वह आत्मा मुख्यतया चेतना (ज्ञान) लक्षण-वाला है; और ऐसे भाव उसमें सदा-सर्वदा रहते हैं, इस लिए वह नित्य पदार्थ है। तुम्हारा यह प्रश्न तथा ऐसे ही और कितने प्रश्न हैं कि जिनके विषयमें बहुत कुछ लिखने, कहने, तथा समझानेकी आवश्यकता है। ऐसी हालतमें इन प्रश्नोंका उत्तर देना कठिन होनेसे ही पहले तुम्हें 'षड्दर्शन समुच्चय' नामक ग्रन्थ भेजा गया था। वह इस लिए कि उसे पढ़ कर, उसका मनन कर थोड़ा बहुत तुम्हारे चित्तका समाधान हो और मेरे पत्र द्वारा भी तुम्हें कुछ विशेष सन्तोष हो सके। इतना ही इस समय बन सकता है। कारण स्थिति ऐसी है कि इस उत्तरसे पूरा पूरा समाधान न होकर उसमें और भी प्रश्न उठनेके लिए अवकाश है; और वे बार बार समाधान किये जाने तथा विचारनेसे ही हल हो सकते हैं।

(२) आत्मा ज्ञान-दशामें—अपने स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेकी अवस्थामें—निज भावोंका अर्थात् ज्ञान, दर्शन और सहज समाधि-रूप परिणामोंका कर्त्ता है। और अज्ञान-दशामें क्रोध-मान-माया-लोभ आदि गर-भावोंका कर्त्ता है और इन भावोंका फल भोगते समय प्रसंग-वश घट-पटादि पदार्थोंका भी निमित्तकारण-रूप कर्त्ता है। मतलब यह कि वह घट-पटादि पदार्थोंके मूल द्रव्य मिट्टीका कर्त्ता नहीं है; किन्तु उसे किसी नये आकारमें लाने-रूप क्रियाका कर्त्ता है। यह जो आत्माकी पीछेसे हालत बतलाई गई उसे जैनधर्म 'कर्म' कहता है; वेदान्त 'भ्रान्ति' कहता

है; तथा दूसरे भी इसी प्रकार या इसीके जैसे ही अन्य शब्द द्वारा उसका उल्लेख करते हैं। परन्तु वास्तवमें विचार करने पर यह स्पष्ट समझमें आ सकता है कि आत्मा घट-पटादि या क्रोधादि भावोंका कर्त्ता नहीं है; किन्तु अपने निजस्वरूप ज्ञान-परिणामका ही कर्त्ता है।

(३) जो कर्म अज्ञान-भावसे किये जाते हैं वे प्रारंभमें बीज-रूप होकर समय पर फल-युक्त वृक्षके रूपमें परिणत होते हैं। मतलब यह कि वे कर्म आत्माको ही भोगने पड़ते हैं; जिस प्रकार कि आगको छूनेसे पहले उष्णताका सम्बन्ध होता है और बाद सहज ही उसे वेदना पड़ता है। यही हालत क्रोधादि भावोंके कर्त्ता होनेसे आत्माकी होती है; और इससे फिर उसे जन्म-जरा-मरणादि परिणाम भोगने पड़ते हैं। इस विषय पर तुम कुछ विशेष विचार करना, और उसमें कुछ प्रश्न उठें तो लिखना। कारण जिस समझके द्वारा निवृत्ति-रूप कार्य किया जाता है उससे जीव निर्वाण लाभ करता है।

२ रा प्रश्न—"ईश्वर क्या वस्तु है? और वह जगत्‌का कर्त्ता है?"

उत्तर—(१) देखो, हम-तुम कर्म-बंध-सहित हैं—हमारा आत्मा कर्मबद्ध है। इस आत्माका जो सहज स्वरूप है अर्थात् इसकी जो कर्म-मुक्त अवस्था है—एक आत्म-रूपता है—वही ईश्वरत्व है। ज्ञानादि ऐश्वर्य जिसमे पाये जायँ वह ईश्वर है और वह ईश्वरत्व आत्माका सहज स्वरूप है; परन्तु कर्मोंके सम्बन्धसे वह स्वरूप जान नहीं पड़ता। और जब कर्मोंके सम्बन्धको आत्मासे भिन्न समझ कर आत्माकी ओर दृष्टि की जाती है तब धीरे धीरे उसी आत्मामें सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्य जान पड़ने लगते हैं। और सर्व पदार्थोंका सूक्ष्मतासे अवलोकन करने पर ऐसा कोई पदार्थ

देखने या अनुभवमें नहीं आता जिसका ऐश्वर्य इस ऐश्वर्यसे विशेष हो। इससे यह स्थिर किया है कि 'ईश्वर' यह आत्माका दूसरा पर्यायवाची नाम है; और इसी कारण मेरा दृढ़ निश्चय है कि इससे विशेष सत्ताशाली कोई पदार्थ ईश्वर नहीं है।

(२) वह ईश्वर जगत्का कर्त्ता नहीं है अर्थात् परमाणु, आकाश आदि पदार्थ नित्य हैं। वे किसी दूसरे पदार्थसे नहीं बन सकते। कदाचित् यह माना जाय कि वे ईश्वरसे बनते हैं तो यह बात भी उचित नहीं जान पड़ती; क्योंकि यदि ईश्वरको चेतन माना जाय या ईश्वरमें चेतनता मानी जाय तो ईश्वरसे परमाणु; आकाश आदि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? कारण यह कभी संभव नहीं कि चेतनसे जड़ उत्पन्न हो सके। और यदि ईश्वरको भी जड़ मान लिया जाय तो फिर वह ऐश्वर्यशाली नहीं रह सकता। जिस प्रकार ईश्वरसे जड़की उत्पत्ति संभव नहीं उसी प्रकार उससे जीव-रूप 'चेतन वस्तु'की भी उत्पत्ति असंभव है। और यदि ईश्वरको उभय-स्वरूप—जड़-चेतन-स्वरूप—मान लिया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि फिर हमें जगत्का ही दूसरा नाम ईश्वर रख कर सन्तोष कर लेना पड़ेगा; क्योंकि जगत् उभय-स्वरूप—जड़-चेतन-स्वरूप—है। कदाचित् परमाणु, आकाश आदिको ईश्वरसे जुदे ही मान कर ईश्वरको कर्मोंका फल देनेवाला माना जाय तो यह भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस विषयमें 'षड्दर्शनसमुच्चय'में अच्छे प्रमाण दिये गये हैं।

३ रा प्रश्न—"मोक्ष क्या है?"

उत्तर—आत्मा जो क्रोधादि अज्ञान-रूप भावोंमें—देहादिमें—बद्ध हो रहा है उनसे सर्वथा निवृत्त होनेको—छूट जानेको—'मोक्ष' कहते हैं।

विचार करने पर ज्ञानीजनोंका यह कथन सहज ही प्रमाणभूत जान पड़ता है ।

४ था प्रश्न—"क्या इस देहमें रहते हुए यह वात ठीक ठीक जानी जा सकती है कि मोक्ष प्राप्त होगा या नहीं ?"

उत्तर—जिस प्रकार रस्सीसे खूव जकड़े हुए हाथोंके वंधन धीरे धीरे और जैसे जैसे ढीले किये जाने लगते हैं वैसे वैसे ही यह अनुभव होने लगता है उन कि वंधनोंसे निवृत्ति—मुक्ति—हो रही है और जान पड़ता है कि उस निवृत्ति पर अव रस्सीकी कोई सत्ता या वल नहीं है; उसी प्रकार आत्मा जो अज्ञान-भावमय अनेक प्रकारके परिणाम-रूप वंधनोंसे बद्ध हो रहा है उसके वे वंधन जैसे जैसे छूटते जाते हैं वैसे वैसे उसे मोक्षका अनुभव होने लगता है । और जव ये वंधन वहुत ही हलके रह जाते हैं तव आत्मामें स्वाभाविक निज स्वभाव प्रकाशित होकर आत्मा अज्ञान-भाव-रूप वंधनसे कुछ मुक्ति लाभ करता है । इस प्रकार इन अज्ञानादि भावोंकी जव सर्वथा निवृत्ति हो जाती है तव इस शरीरके वने रहते हुए भी आत्म-भाव प्रकट हो जाते हैं और फिर उस शुद्ध आत्माको सर्व वंधनोंसे अपनी भिन्नताका अनुभव होने लगता है अर्थात् इसी देहमें ही 'मोक्षपदका' अनुभव किया जा सकता है ।

५ वाँ प्रश्न—"शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि मनुष्य इस शरीरका परित्याग कर कर्मोंके अनुसार पशु-योनिमें जाता है, पत्थर होता है, यहाँ तक कि वृक्ष होता है; क्या यह सब ठीक है ?"

उत्तर-जव आत्मा एक शरीरका त्याग कर दूसरे शरीरमें जाता है तव उसकी अपने उपार्जित कर्मोंके अनुसार गति होती है । वह फिर

तिर्यंच भी होता है, और पृथ्वी काय अर्थात् पृथ्वी-रूप शरीर भी धारण करता है। उस दशामें उसे चार इन्द्रियोंके विना कर्म भोगने पड़ते हैं; पर यह नहीं है कि वह पृथ्वी या पत्थर हो जाता है। वह पत्थर-रूप कायशरीर धारण करता है; परन्तु उसमें भी अव्यक्त-रूपसे जीव रहता ही है। उसमें बाकी चार इन्द्रियोंकी प्रकटता न होनेसे उसे पृथ्वीकाय जीव कहते हैं, वह एकेन्द्रिय है। अनुक्रमसे जब यह एकेन्द्रिय पृथ्वी-काय जीव कर्मोंको भोग कर अन्य गति लाभ करता है तब वह पृथ्वी-रूप पत्थरका पिंड परमाणुओंके रूपमें रह जाता है। उसमेंसे जीवके निकल जानेसे फिर उसमें आहारादि संज्ञायें नहीं होतीं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि पत्थर-जीव केवल जड़के जैसा होता है। जिन कर्मोंकी विषमतासे जीवको केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय धारण करनी पड़ती है—बाकी चार इन्द्रियाँ अप्रकट सत्ता-रूपसे रहती हैं—उन कर्मोंको भोगते समय उसे पृथ्वी आदिमें जन्म धारण करना पड़ता है; परंन्तु वह बिलकुल पृथ्वी-रूप या पत्थर-रूप नहीं हो जाता। वह पशु-योनि भी धारण करता है, पर इससे पशु-रूप नहीं हो जाता है। शरीर धारण करना जीवका एक वेष है; स्वरूप नहीं है।

छठे और सातवें प्रश्नका समाधान भी इसी उत्तरसे हो जाता है कि केवल पत्थर या केवल पृथ्वी कर्मोंके कर्त्ता नहीं है; किन्तु उनमें उत्पन्न हुआ जीव कर्मोंका कर्ता है; और वे दूध तथा पानीकी भाँति जुदे जुदे हैं। जिस प्रकार दूध और पानी एक मिले हुए होने पर भी दूध दूध है और पानी पानी है अर्थात् अपनी अपनी सत्ताकी अपेक्षा दोनों ही जुदे जुदे हैं। इसी प्रकार एकेन्द्रिय आदि कर्म-बंधके कारण जीवमें पत्थर-रूप

पृथ्वीकायत्व–जड़त्व–भाव देखा जाता है; परन्तु वास्तवमें तो जीव जीव-रूप ही है और उस हालतमें भी वह आहार आदि संज्ञाओंको–जो कि अव्यक्त रहती हैं–भोगता है।

८ वाँ प्रश्न—"आर्य धर्म क्या है? प्रायः सव धर्मोंकी उत्पत्ति क्या वेदहीसे है?"

उत्तर—(१) आर्य-धर्मकी व्याख्या करते हुए प्रायः सभी अपने अपने धर्मको 'आर्य-धर्म' कहनेका दावा करते हैं। जैनी जैनधर्मको, बौद्ध बुद्धधर्मको और वेदान्ती वेदान्तको 'आर्य-धर्म' कहते हैं। यह एक साधारण वात है; परन्तु ज्ञानीजन तो उसे ही 'आर्य-धर्म' कहते हैं जिससे निज स्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है; और वही आर्य (उत्तम) धर्म या मार्ग है।

(२) प्रायः मतों या धर्मोंकी उत्पत्ति वेदोंमेंसे हुई संभव नहीं जान पड़ती। इसका कारण मेरे अनुभवमें यह आता है कि वेदोंमें जितना ज्ञान कहा गया है उससे अनन्त गुणा ज्ञान श्रीतीर्थंकर आदि महात्माओंने कहा है। और इससे मैं यह समझता हूँ कि थोड़ी वस्तुमेंसे पूर्ण वस्तु नहीं निकल सकती। इस परसे वेदोंमेंसे सव धर्मोंकी उत्पत्ति कहना संगत नहीं जान पड़ता। वैष्णव आदि कितने ऐसे सम्प्रदाय हैं जिनकी उत्पत्ति वेदोंसे माननेमें कोई वाधा नहीं आती। जैन और वौद्धोंके जो महावीर, गौतम-बुद्ध अन्तिम महात्मा हुए हैं वेद उनसे पहले थे; इतना ही नहीं किन्तु वे वहुत प्राचीन जान पड़ते हैं। तव भी यह नहीं कहा जा सकता कि जो प्राचीन हो वही सम्पूर्ण हो या सत्य हो; और पीछेसे उत्पन्न होनेवाला असम्पूर्ण और असत्य हो। सव भाव अनादि हैं; मात्र उनमें रूपान्तर होता रहता है। किसी वस्तुकी सर्वथा उत्पत्ति या सर्वथा नाश नहीं होता।

इस वातके माननेमें कोई वाधा नहीं कि वेद, जैन तथा अन्य और सव धर्मों या मतोंके भाव अनादि हैं। तव विवाद किस वातका? परन्तु फिर भी हम-सवको इस वात पर विचार करना चाहिए कि इन सव मतों या धर्मोंमें विशेष वलवान्–सत्य–विचार किसके हैं।

९ वाँ प्रश्न—"वेदोंको किसने वनाया? वे अनादि हैं? और अनादि हैं तो अनादि किसे कहते हैं?"

उत्तर—(१) वेद वहुत पुराने जान पड़ते हैं। (२) पुस्तकके रूपमें कोई शास्त्र अनादि नहीं हो सकता; और उनमें कहे गये अर्थ-रूपसे सव ही शास्त्र अनादि हैं; क्योंकि उन उन अभिप्रायोंको जुदे जुदे रूपमें जुदे जुदे लोग कहते आये हैं। हिंसा-धर्म भी अनादि है और अहिंसा-धर्म भी अनादि है। मात्र विचार उसकी उपयोगिताके संम्वंधमें करना है कि जीवोंके लिए हितकारी क्या है। अनादि तो दोनों ही हैं; परन्तु वात यह है कि कभी किसीका वल वढ़ जाता है और कभी किसीका वल घट जाता है।

१० वाँ प्रश्न—"गीताको किसने वनाया? वह ईश्वरकी वनाई हुई तो नहीं है? और जो ईश्वरकी वनाई वतलाई जाय तो उसके लिए प्रमाण क्या है?"

उत्तर (१) ऊपर दिये हुए उत्तरोंसे इस प्रश्नका कुछ कुछ समाधान हो सकता है, यदि ईश्वर-कृतका अर्थ ज्ञानी–पूर्णज्ञानी–किया जाय। परन्तु यदि ईश्वरका स्वरूप नित्य, अक्रिय और आकाशकी तरह व्यापक माना जाय तो उसके द्वारा ऐसी पुस्तकोंका रचा जाना संभव नहीं हो

सकता । क्योंकि जिसका कर्तृत्व आरंभ-पूर्वक होता है वह कार्य साधारण या सादि होता है; अनादि नहीं होता ।

(२) गीता वेदव्यासजीकी रची हुई मानी जाती है; परन्तु उसमें जो मुख्यतासे श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश किया है उससे उसके रचयिता श्रीकृष्ण कहे जाते हैं; और यह बात संभव है । ग्रंथ श्रेष्ठ है, और ऐसे भाव अनादिसे चले आते हैं; परंतु यह संभव नहीं कि वैसे श्लोक भी अनादि चले आये हों । इसी प्रकार यह भी संभव नहीं है कि वह अक्रिय ईश्वरके द्वारा रची गई हो । सक्रिय अर्थात् किसी शरीर-धारीके द्वारा ही ऐसी क्रियाका होना संभव माना जा सकता है । इसी लिए इस बातके मान लेनेमें फिर कोई बाधा नहीं आती कि ईश्वर 'सम्पूर्णज्ञानी' है और उसके द्वारा उपदेश किये हुए शास्त्र 'ईश्वरीय शास्त्र' हैं ।

११ वाँ प्रश्न—"पशु आदिके द्वारा किये हुए यज्ञसे कुछ पुण्य होता है क्या ?"

उत्तर—पशु-वधसे, उसके होमसे या पशुको थोड़ा भी दुःख देनेसे पाप ही होता है; फिर वह यज्ञके अर्थ वध किया जाय अथवा चाहे तो परमात्माके अर्थ मन्दिरमें वध किया जाय । परंतु यज्ञमें जो थोड़ी-बहुत दानादि क्रिया की जाती है वह कुछ पुण्यका कारण अवश्य है; परन्तु उसमें भी हिंसाका सम्बन्ध होनेसे उसका अनुमोदन करना उचित नहीं है।

१२ वाँ प्रश्न—"यह कहो कि धर्म जब एक उत्तम वस्तु है तब उसकी उत्तमताके लिए प्रमाण पूछनेमें कुछ हानि है क्या ?"

उत्तर—प्रमाण न बतलाया जाय और बिना प्रमाणके ही यह प्रतिपादन किया जाय कि धर्म उत्तम है तो इसका यह अर्थ होगा कि अर्थ

अनर्थ, धर्म अधर्म आदि सभी उत्तम ठहरेंगे । वस्तुकी उत्तमता और अनुत्तमता तो प्रमाण द्वारा ही समझी जाती है । जो धर्म संसारके नष्ट करनेमें सवसे उत्तम हो और आत्म-स्वरूपमें स्थिति करानेमें वलवान् हो वही धर्म उत्तम है और वही धर्म वलवान् हैं ।

१३ वाँ प्रश्न—क्रिश्चियन धर्मके सम्वन्धमें आप कुछ जानते हैं? और जानते हैं तो इस विषयमें आपके क्या विचार हैं?

उत्तर—क्रिश्चियन धर्मके सम्वन्धमें मुझे साधारण जानकारी है। और यह वात साधारण ज्ञान होने पर भी समझमें आ सकती है कि भारतके महात्माओंने जिस प्रकार धर्मका शोध किया है और उस पर विचार किया है वैसा विदेशियों द्वारा न शोध किया गया है और न वैसा विचार ही किया गया है । उसमें जीव सदा पर-वश वतलाया गया है, यहाँ तक कि मोक्षमें भी उसकी यही हालत वतलाई गई है । उसमें जीवके अनादि स्वरूपका जैसा चाहिए वैसा विवेचन नहीं है और न कर्मोंकी ठीक ठीक व्यवस्था तथा उनकी निवृत्तिका ठीक ठीक उपाय ही वतलाया गया है । क्रिश्चियन धर्मके विषयमें मेरे विचार इस वातको नहीं मान सकते कि "वह धर्म सर्वोत्तम है ।" ऊपर जिन वातोंका उल्लेख किया गया है उनका क्रिश्चियन धर्ममें योग्य समाधान नहीं दिखाई पड़ता । यह वात मैंने कोई मतभेदके वश होकर नहीं कही है । इस विषयमें और कोई अधिक पूछने योग्य वातें जान पड़े तो उन्हें पूछिएगा; उनका और विशेषतया समाधान किया जा सकेगा ।

१४ वाँ प्रश्न—ये लोग कहते हैं कि 'वाइविल' ईश्वर प्रेरित है और यीशू उसका अवतार है; उसका पुत्र है । क्या वह ऐसा था?

उत्तर—इस बातको केवल श्रद्धासे मान लिया जाय तो ऐसा हो सकता है; परन्तु प्रमाण द्वारा यह बात सिद्ध नहीं हो सकती । जिस प्रकार गीता और वेदोंके ईश्वर-कृत न होनेमें मैंने जो दलीलें दी हैं उन्हें ही बाइबिलके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिए । देखो, ईश्वर वह है जो जन्म-मरणसे छुटकारा पा गया हो, अतएव जो अवतार लेता हो–जन्म धारण करता हो—वह ईश्वर नहीं हो सकता; क्योंकि जन्मधारण करनेके कारण राग-द्वेष हैं और ईश्वर राग-द्वेषसे रहित है । तब विचार करने पर यह बात यथार्थ नहीं जान पड़ती कि ऐसा राग-द्वेष-रहित ईश्वर अवतार धारण करे । तथा यह बात भी विचार करने पर कदाचित् एक रूपककी तरह ठीक बैठ जाय कि 'यीशू' ईश्वरका पुत्र है या था; परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो यह सदोष ही है । मुक्त ईश्वरका पुत्र हो ही कैसे सकता है ? और कदाचित् ऐसा मान भी लें तो फिर उसकी उत्पत्ति किस तरह मानी जायगी ? और इन दोनों ही बातोंको यदि अनादिसे मानलें तो फिर 'पिता-पुत्र' का सम्बन्ध ही कैसे बन सकेगा ? ये सब बातें बहुत विचारणीय हैं और मेरा विश्वास है कि इन पर विचार करनेसे ये सत्य भी न जान पड़ेंगीं ।

१५ वाँ प्रश्न—पुराने करारमें जो भविष्य कहा गया है वह यीशूके विषयमें प्रायः सत्य हुआ है ?

उत्तर—यह हो तो भी दोनों शास्त्रोंके सम्बन्धमें विचार करना योग्य जान पड़ता है । इसी प्रकर ऐसा भविष्य भी यीशूको ईश्वरका अवतार कहनेमें कोई बलवान् प्रमाण नहीं हैं; क्योंकि ज्योतिष आदिके द्वारा भी महात्माओंकी उत्पत्तिका बतला देना संभव है । अथवा हो सकता है कि किसी ज्ञानके द्वारा ऐसी बात बतलादी गई हो; परन्तु ऐसे भविष्य-

वेत्ता सम्पूर्ण मार्गके जाननेवाले थे, यह वात तव तक नहीं मानी जा सकती जव तक इस विषयका कोई प्रवल प्रमाण न मिले। इस प्रकारका भविष्य एक श्रद्धा पर अवलम्वित प्रमाण है और यह अनुभवमें नहीं आता कि अन्य प्रमाणोंसे इसमें वाधा न आवेगी।

१६ वाँ प्रश्न—वाइविलमें यीशू ख्रीष्टके सम्वन्धमें कई चमत्कार-पूर्ण वातें लिखी हैं?

उत्तर—जिस शरीरमेंसे जीव निकल गया हो और फिर उसी जीवको उसी शरीरमें प्रविष्ट किया गया हो अथवा किसी अन्य जीवको उसी शरीरमें प्रविष्ट किया गया हो तो यह विलकुल असंभव है—ऐसा नहीं हो सकता। और यदि ऐसा हो तो फिर कर्मादिकोंकी सव व्यवस्था निष्फल हो जाय। किन्तु हाँ, यह माना जा सकता है कि योगसिद्धिसे कितने ही चमत्कार प्राप्त हो सकते हैं और ऐसे कुछ चमत्कार यीशूको भी प्राप्त हो गये हों तो यह कोई नहीं कह सकता कि वे सर्वथा मिथ्या हैं या असंभव हैं। ऐसी सिद्धियाँ आत्माके ऐश्वर्यकी तुलनामें तुच्छ हैं; आत्माके ऐश्वर्यका इनसे अनन्त गुणा महत्त्व है। यह विषय साक्षात्में पूछने योग्य है।

१७ वाँ प्रश्न—क्या इस वातकी खवर हमें हो सकती है कि भविष्यमें हमारा जन्म कहाँ होगा; अथवा भूतकालमें हम कहाँ थे?

उत्तर—हाँ, यह हो सकता है। इन वातोंको वह मनुष्य जान सकता है जिसका ज्ञान निर्मल है। जिस भाँति वादल आदि चिह्नों परसे वर्षाका अनुमान किया जा सकता है उसी भाँति जीवकी इस भवकी चेष्टाओं परसे यह वात जानी जा सकती है कि उसके पूर्व कारण कैसे

होने चाहिए । हाँ, यह हो सकता है कि उसका पूरा ज्ञान न होकर थोड़ा ज्ञान हो । इसी प्रकार उसके स्वरूप परसे यह भी जाना जा सकता है कि भविष्यमें उसकी चेष्टायें किस रूप परिणमेंगीं । और उस पर विशेषताके साथ विचार करनेसे यह बात अच्छी तरह ध्यानमें आ सकेगी कि भविष्यमें उसे कैसा भव मिलेगा और भूतमें वह किस भवमें था ।

१८ वाँ प्रश्न—किसे खबर पड़ सकेगी ?

उत्तर—इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है ।

१९ वाँ प्रश्न—जो आप मोक्ष प्राप्त हुए महात्माओंके नाम बतलाते हो, उसके लिए आधार क्या है ?

उत्तर—यदि यह प्रश्न मुझे खास लक्ष्य करके पूछते हो तो इसका उत्तर यों दिया जा सकता है कि जिसकी संसार-दशा अत्यन्त परिक्षीण हो गई है उसके ऐसे वचन होते हैं, ऐसी उसकी चेष्टायें होती हैं कि उनके द्वारा वैसा ही अनुभव अपनी आत्मामें भी होता है; और उसीके आधार पर वे मोक्ष-प्राप्त कहे जाते हैं । और उसकी यथार्थताके लिए शास्त्र-प्रमाण भी बहुत मिल सकते हैं ।

२० वाँ प्रश्न—यह बात आप किस आधार पर कहते हैं कि बुद्ध भगवान् मोक्ष नहीं गये ?

उत्तर—उन्हींके सिद्धान्त तथा उन्हींके शास्त्रोंके आधार पर । यदि उनके शास्त्र-सिद्धान्त जैसे हैं वैसे ही उनके अभिप्राय भी हों तो वे अभि-प्राय पूर्वापर विरुद्ध हैं । और यह पूर्वापर-विरुद्धता सम्पूर्ण ज्ञानका लक्षण नहीं है । और जहाँ संपूर्ण ज्ञान नहीं होता वहाँ पूर्ण-रूपसे राग-द्वेषोंका नष्ट हो जाना भी संभव नहीं । जहाँ वे होते हैं वहाँ संसारका होना संभव है;

अतएव ऐसी हालतमें उन्हें सर्वथा मोक्ष-प्राप्ति बतलाना नहीं बन सकता। इसके सिवाय यदि उनके शास्त्रोंमें जो बातें कही गई हैं उनसे जुदा उनका अभिप्राय हो तो उसका जानना हमारे तुम्हारे लिए कठिन है। और इतने पर भी यह कहा जाय कि बुद्धदेवका अभिप्राय भिन्न था तो इसका यथार्थ कारण बतानेसे वह प्रमाण माना जा सकता है।

२१ वाँ प्रश्न—जगत्की अन्तिम स्थिति क्या होगी?

उत्तर—मैं इस बातको नहीं मान सकता कि या तो सब जीव मोक्ष चले जायँगे या जगत्का सर्वथा नाश हो जायगा। मेरा विश्वास तो यह है कि जैसी जगत्की स्थिति अब तक चली आई है वैसी ही सदा चली जायगी। इस सृष्टिकी स्थिति ऐसी है कि उसके कोई भाव रूपान्तरमें परिणत हो कर नष्ट हो जाते हैं और कोई भाव बढ़ जाते हैं; वे एक क्षेत्रमें बढ़ते हैं तो साथ ही दूसरे क्षेत्रमें घट जाते हैं। इस पर और अधिक गहरा विचार करने पर यह संभव जान पड़ता है कि इस सृष्टिका सर्वथा नाश या प्रलय नहीं बन सकता। परन्तु 'सृष्टि' शब्दका अर्थ इतना ही न करना चाहिए कि 'यही पृथ्वी'।

२२ वाँ प्रश्न—इन अनीतियोंमेंसे सुनीति होगी क्या?

उत्तर—इस प्रश्नका उत्तर सुन कर कोई अनीतिमें प्रवृत्ति करना चाहे तो उसे इस उत्तरका लाभ न लेने देना चाहिए। नीति अनीति आदि सभी भाव अनादि हैं; तथापि हम अनीति छोड़ कर नीति स्वीकार करें तो वह स्वीकार की जा सकती है, और यही आत्माका कर्तव्य भी है। यह नहीं कहा जा सकता कि सब जीव अनीति छोड़ देंगे और सर्वत्र नीतिका प्रचार हो जायगा; क्योंकि सर्वथा ऐसी स्थिति नहीं हो सकती।

२३ वाँ प्रश्न—जगत्का प्रलय होता है ?

उत्तर— प्रलयका यदि 'सर्वथा नाश' अर्थ किया जाय तो यह नहीं बन सकता; कारण सब पदार्थोंका सर्वथा नाश हो जाना संभव नहीं है। और यदि प्रलयका यह अर्थ किया जाय कि सब पदार्थ ईश्वरादिमें लीन हो जाते हैं तो किसी रूपमें यह बात स्वीकार की जा सकती है; परन्तु मुझे तो यह भी संभव नहीं जान पड़ती। कारण, सब जीव तथा सब पदार्थ ऐसे सम-परिणाम किस तरह प्राप्त कर सकते हैं जिससे ऐसा योग बन जाय कि वे किसीमें मिल कर एक-रूप हो जायँ। और कदाचित् ऐसा सम-परिणामका योग मिल भी जाय तो फिर उनमें विषमता नही बन सकेगी। और यदि प्रलयका यह अर्थ किया जाय कि जीवमें अव्यक्त-रूपसे तो विषमता रहती है और व्यक्त-रूपसे समता रहती है, तो यह भी नहीं बन सकता; क्योंकि देहादिके सम्बन्ध बिना विषमता किसके आश्रय रहेगी? और यदि इसके लिए वेदादि (स्त्री-पुरुष-नपुंसक-रूप)का आधार माना जाय तो सबको एकेन्द्रिय माननेका प्रसंग आवेगा; और ऐसा मान लेना फिर बिना कारण अन्य गतियोंको अस्वीकार करना कहा जायगा। अर्थात् ऊँची गतिके जीवको वैसे परिणामके नष्ट होनेका प्रसंग प्राप्त हुआ हो तो फिर उसे उसके प्राप्त करनेका संभव हो जायगा। इत्यादि बहुतसे विचार इस विषयमें उत्पन्न होते हैं। मतलब यह कि सब जीवोंके और सब पदार्थोंके नाश रूप 'प्रलय-विधान'का होना असंभव है।

२४ वाँ प्रश्न—बिना पढ़े-लिखे प्राणीको केवल भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है क्या?

उत्तर—भक्ति ज्ञानका कारण है और ज्ञान मोक्षका कारण है। जिसे अक्षर ज्ञान न हो उसे वे-पढ़ा-लिखा कहा जाय तो ऐसा नहीं है कि उसके लिए भक्तिका प्राप्त होना असंभव है; क्योंकि जीव मात्र ज्ञान स्वभावके धारक हैं। भक्तिके द्वारा ज्ञान निर्मल होता है और निर्मल ज्ञान मोक्षका कारण है। परन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि विना सम्पूर्ण ज्ञान हुए मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती; और यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं कि जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान होता है वहाँ सव भाषा-ज्ञान गर्भित हो जाता है। भाषा-ज्ञान मोक्षका कारण है; परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि जिसे भाषा-ज्ञान न हो उसे आत्मज्ञान भी न हो।

२५ वाँ प्रश्न—क्या यह वात सत्य है कि कृष्ण और राम अवतार हैं? और यदि ऐसा है तो अवतारसे मतलव क्या है? ये साक्षात् ईश्वर थे या उसके अंश थे? इन्हें माननेसे मोक्ष-प्राप्ति तो हो सकेगी?

उत्तर—(१) यह तो मुझे निश्चय है कि ये दोनों ही महात्मा थे। वे आत्मा थे अतएव ईश्वर भी थे; और उनके सर्व आवरण नष्ट हो गये हों तो उन्हें मोक्ष-प्राप्ति मानने भी कोई विवाद नहीं है। परन्तु मैं इस वातको स्वीकार नहीं कर सकता कि कोई जीव ईश्वरका अंश है; क्योंकि उसके विरोधी हजारों ही प्रमाण दृष्टिमें आते हैं। जीवको ईश्वरका अंश मानलेनेसे वंध, मोक्ष आदि सव व्यर्थ हो जायँगे; कारण फिर तो अज्ञानादि भावोंका कर्त्ता ईश्वर ही ठहरेगा। इस प्रकार यदि ईश्वर अज्ञानादि भावोंका कर्त्ता ठहर गया तव तो उसमें जो स्वाभाविक ईश्वरत्व था कहना चाहिए कि वह उसे भी खो वैठा। अर्थात् चला तो वह जीवोंका स्वामी वनने और खो वैठा अपने ईश्वरत्वको ही! इसी प्रकार जीवको

ईश्वरका अंश मान लेनेसे उसे पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता न रह जायगी; क्योंकि फिर वह कर्त्ता-हर्त्ता तो ठहर नहीं सकता। इत्यादि विरोधोंके कारण मेरी बुद्धि इस बातको कबूल नहीं करती कि कोई भी जीव ईश्वरका अंश है; तब फिर वह श्रीकृष्ण तथा राम जैसे महात्मा-ओंको इस रूपमें मान लेनेके लिए कैसे तयार हो सकती है? यद्यपि इस बातके मान लेनेमें कोई बाधा नहीं आती कि ये दोनों ही महात्मा 'अव्यक्त ईश्वर' थे; तो भी यह बात विचारणीय है कि उनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रकट हो गया था क्या?

(२) तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर सहज है कि 'इन्हें माननेसे मोक्ष-प्राप्ति तो हो सकेगी?' देखो, सब प्रकार राग-द्वेष, अज्ञान आदिके नष्ट हो जानेको मोक्ष कहते हैं। वह जिनके उपदेशसे हो सके उन्हें माननेसे और वैसे ही परमार्थ-स्वरूपका विचार करनेसे, अपने आत्मामें उसी प्रकारकी निष्ठा होकर उन्हीं महात्माओंके आत्माके स्वरूपके जैसी जब स्थिति हो जाय तब मोक्ष-प्राप्ति संभव ही है। इसके सिवाय अन्य उपासना सर्वथा मोक्षकी कारण नहीं है; उसके साधनकी कारण है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह साधनका कारण निश्चयसे होगी ही।

२६ वाँ प्रश्न—ब्रह्मा, विष्णु, और महेश्वर ये कौन हैं?

उत्तर—सृष्टिके कारण-रूप तीन गुणोंका आधार लेकर रूपक बाँधा हो तो यह कल्पना ठीक बैठ सकती है; तथा ऐसे ही अन्य और कारणों द्वारा इन ब्रह्मादिकोंका स्वरूप समझमें आ सकता है; परन्तु इस बातके माननेमें मेरा मन गवाही नहीं देता कि पुराणोंमें जैसा उनका स्वरूप कहा गया है वैसा ही उनका स्वरूप है। क्योंकि यह भी जान पड़ता है कि

उनमें कितनी ही बातें केवल उपदेशके अर्थ रूपक बाँध कर कही गई हैं। हमें भी उनके द्वारा उपदेशके रूपमें ही लाभ उठाना उचित है; ब्रह्मादिके स्वरूपके निर्णयके झगड़ेमें न पड़ना चाहिए। और मुझे विशेष कर यही अच्छा लगता है।

२७ वाँ प्रश्न—सर्प काटनेके लिए आवे तो उस समय हमें स्थिर रह कर उसे काटने देना उचित है या मार डालना? और कल्पना करो कि इस उपायके सिवाय उसे दूर करनेकी हममें शक्ति नहीं है।

उत्तर—इस प्रश्नका मैं यह उत्तर दूँ कि सर्पको 'काटने दो' तो बड़ी कठिन समस्या आकर उपस्थित होती है; तथापि तुमने जब यह समझा है कि 'शरीर अनित्य है' तो फिर इस असार शरीरकी रक्षार्थ उसे मारना क्यों कर उचित हो सकता है जिसकी कि इस शरीरमें प्रीति है—मोह-बुद्धि है। जो आत्म-हितके इच्छुक हैं उन्हें तो यही उचित है कि वे शरीरसे मोह न कर उसे सर्पके अधीन कर दें। अब तुम यह पूछोगे कि जिसे आत्म-हित न करना हो उसे क्या करना चाहिए? तो उसके लिए यही उत्तर है कि उसे नरकादि कुगतियोंमें परिभ्रमण करना चाहिए; उसे यह उपदेश कैसे किया जा सकता है कि वह सर्पको मार डाले? अनार्य-वृत्तिके द्वारा सर्पके मारनेका उपदेश किया जाता है; पर हमें तो यही इच्छा करना चाहिए कि ऐसी वृत्ति स्वप्नमें भी न हो।

इस प्रकार संक्षेपमें तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दे कर मैं अब पत्र पूरा करता हूँ। एक बात यह कहना है कि 'षट्दर्शन-समुच्चय' के समझनेका विशेष यत्न कीजिए। मैंने जो संक्षेपमें प्रश्नोंके उत्तर दिये हैं उससे किसी किसी जगह उनके समझनेमें विशेष उलझन जान पड़े तो भी

उन पर विशेष ध्यान-पूर्वक विचार कीजिए; और कोई बात पत्र द्वारा पूछने योग्य जान पड़े तो उसे पूछिए । मैं तब उनका अधिक विस्तारके साथ उत्तर दूँगा । सबसे अच्छी बात तो यह है कि इन बातोंकी साक्षात्मे चर्चामें हो कर समाधान किया जाये ।

आत्म-स्वरूपमें नित्य निष्ठाके कारण-भूत विचारकी चिंतामें रहनेवाले

संवत् १९५०
कुँवार विदी ६, शनीवार। } राजचंद्रका—
प्रणाम।

[२]

"आपका पत्र मिल गया। विचार करने पर इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि ज्यों ज्यों उपाधिको छोड़नेका यत्न किया जाता है त्यों त्यों समाधि-सुख प्रकट होने लगता है और ज्यों ज्यों उपाधिके ग्रहण करनेकी लालसा बढ़ती जाती है त्यों त्यों समाधि-सुख नष्ट होता जाता है।

इस संसारके पदार्थोंके सम्बन्धमें थोड़ा भी विचार किया जाय तो इसके प्रति वैराग्य हुए विना नहीं रह सकता; क्योंकि इसमें मोह-बुद्धि तभी तक रहती है जब तक अविचार है।

जिन भगवान्ने कहा है कि उस मनुष्यको 'विवेक-ज्ञान' या 'सम्यग्दर्शन'की प्राप्ति हुई समझनी चाहिए जिसने खूब विचार-मनन कर नीचे लिखी छः बातोंको समझ लिया है। "आत्मा है," "आत्मा नित्य है" "आत्मा कर्मोंका कर्त्ता है," "आत्मा कर्मोंका भोक्ता है," "आत्मा कर्मोंसे छूट सकता है," और "कर्मोंसे छूटनेके साधन हैं"।

पूर्व-जन्मके किसी विशेष अभ्यासके वलसे इन छः वातोंके सम्वन्धमें विचार करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है या सत्समागमके द्वारा ऐसी विचार-शक्ति होती है।

अनित्य वस्तुमें जो मोह-वुद्धि होती रहती है उसीके कारण आत्माके 'अस्तित्व' 'नित्यत्व' और 'अव्यावाध समाधि-सुखका भान नहीं होता। उस मोह-वुद्धिमें अनादि कालसे ही जीवकी ऐसी एक लीनता चली आ रही है कि वह जरा ही उसके सम्वन्धमें विचार करनेका यत्न करता है कि उसे तुरंत ही घवरा कर पीछे लौट आना पड़ता है। और इसी कारण पहले वहुत वार ऐसा वनाव वन चुका है कि मोह-ग्रन्थिके छेदनेका समय आनेके पहले ही उसे अपने विवेकको—विचार-शक्तिको—छोड़ देना पड़ा है। क्योंकि जिसका अनादि कालसे अभ्यास पड़ रहा है वह विना अत्यंत परिश्रम किये थोड़े ही समयमें नहीं छोड़ा जा सकता। अतएव वार वार सत्संग, सच्छास्त्र तथा सरल विचारों द्वारा इस विषयमें अधिक श्रम करना उचित है कि जिसके परिणाममें 'नित्य,' 'शाश्वत' और 'सुख-स्वरूप' आत्मज्ञान हो कर 'आत्म-स्वरूप' प्रकट होता है। इसमें पहले उठनेवाले सन्देह आगे चल कर धैर्य और विचारसे शान्त पड़ जाते हैं; और इससे विपरीत अधीरता तथा उलटी कल्पना करनेसे केवल जीवको अपने हितके त्याग करनेको विवश होना पड़ता है। और फिर इसका परिणाम यह होता है कि अनित्य पदार्थोंमें राग-वुद्धि रहनेके कारण उसे पुनः पुनः संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है।

यह जान कर अत्यन्त सन्तोष होता है कि तुम्हें आत्म-विचार करनेकी थोड़ी वहुत इच्छा रहती है। इस संतोषमें मेरा कोई स्वार्थ नहीं है।

यह सन्तोप स्वाभाविक है और वह इसलिए होता है कि तुम जो समाधिके मार्ग चढ़नेकी इच्छा करते हो उससे तुम्हें संसार-क्लेशसे छुटकारा पानेका अवसर प्राप्त होगा।

सं० १९५१, फागन विदी ५,
शनीवार।

[२]

तुम्हारा पत्र मिला। इस पत्रमें मैं उसका संक्षिप्त उत्तर लिखता हूँ–

यह जान पड़ता है कि नैटालमें रहनेसे तुम्हारी बहुतसी सद्वृत्तियोंमें विशेपता आ गई है; परन्तु इस प्रकारकी वृत्तिका मूल कारण तुम्हारी उच्च इच्छा ही है। यह माननेमें कोई हानि नहीं कि तुम्हारी कितनी ही वृत्तियोंका राजकोटकी अपेक्षा नैटालमें अधिक उपकार होगा; क्योंकि नैटालमें ऐसे प्रपंचोंमें पडनेका दबाव तुम्हारे ऊपर नहीं पड़ सकता जिनसे कि तुम्हें अपनी सरलताको सुरक्षित रखनेमें कोई निजी भय हो। परन्तु जिसकी सद्वृत्तियाँ विशेप बलवान् नहीं है, निर्बल हैं और उसे इंगलेण्ड आदिमें स्वतंत्रताके साथ रहना पड़े तो यह निश्चित है कि वह अभक्ष-भक्षण आदि दोपोंको नहीं बचा सकता। और तुम्हारे लिए तो यह बात है कि नैटालमें विशेप प्रपंच न होनेसे तुम्हारी सद्वृत्तियाँ जैसी विशेपता लाभ कर सकी हैं वैसी विशेषता लाभ करना राजकोट जैसेमें और भी कठिन है। हाँ, यह संभव है कि कोई उत्तम आर्य-क्षेत्रमें रह कर

सत्समागम आदिका योग मिल सके तो वे नैटालकी अपेक्षा भी अधिक विशेषता लाभ कर सकती हैं। तुम्हारी वृत्तियोंको देखते मैं इस वातको नहीं मान सकता कि तुम पर नैटाल अनार्य-क्षेत्रके रूपमें असर करेगा; परन्तु यह मान लेना योग्य जान पड़ता है कि वहाँ सत्समागम आदि प्रायः न मिलनेके कारण कितने ही अंशोंमें आत्म-वशता न होनेरूप हानि अवश्य होगी।

यहाँसे मैंने जो 'आर्य-आचार-विचार' को सुरक्षित रखनेके सम्वन्धमें लिखा था, उसमें 'आर्य-आचार'से मेरा मतलव यह है कि मुख्यतासे दया, सत्य, क्षमा आदि गुणोंको धारण करना; और 'आर्य-विचार' का यह आशय है कि आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व मानना; वर्तमानमें उसके स्वरूपका अज्ञान तथा इस अज्ञान और स्वरूपके भान न होनेके कारण पर विचार करना; उन कारणोंकी निवृत्ति और निवृत्तिके वाद अव्यावाध आनन्द-स्वरूप अपने निज पदमें स्वाभाविक स्थिति आदि होनेके सम्वन्धमें विचार करना। इस प्रकार संक्षिप्त पर मुख्य अर्थको ले कर ये शब्द लिखे हैं। वर्णाश्रम आदि तथा वर्णाश्रम आदि-पूर्वक आचार ये सदाचारके अंगभूत हैं। यह विचारसिद्ध है कि विशेष परमार्थ-साधनका हेतु न हो तो वर्णाश्रम-पूर्वक ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। यद्यपि वर्तमानमें वर्णाश्रम धर्म वहुत ही निर्वल स्थितिमें आ गया है तथापि हम जव तक उत्कृष्ट त्याग दशा न प्राप्त कर सकें और जव तक गृहस्थाश्रममें रहना हो तव तक तो हमें अपने वैश्यरूप वर्ण-धर्मका ही अनुसरण करना उचित है; कारण अभक्ष-भक्षण आदि

उसके योग्य व्यवहार नहीं है। तब यह प्रश्न होता है कि लुहाणा भी तो इसी तरह चलते हैं फिर उनके यहाँके अन्नाहार आदिके ग्रहण करनेमें क्या हानि है? तो इसके उत्तरमें इतना ही कहना योग्य है कि बिना किसी कारणके इस पद्धतिको बदलना योग्य नहीं जान पड़ता; क्योंकि यह प्रवृत्ति फिर इस उपदेशका कारण बन जायगी कि उन वर्णोंके साथ भी खान-पानमें कोई हानि नहीं है जिनका इस समय हमारे साथ समागम नही हो रहा है या जो प्रसंग पड़ने पर हमारी रीति-भाँतिके अनुसार ही चलते हैं। यह ठीक है कि लुहाणाके घरका अन्नाहार करनेसे वर्णाश्रम नष्ट नहीं हो जाता; *परन्तु मुसलमानके यहाँ तो अन्नाहार करनेसे उसकी विशेष हानि होना* संभव है; और वह वर्णाश्रम-धर्मकी मर्यादाके लोप करनेके जैसा ही अपराध है। हाँ, यह हो सकता है कि ऐसी प्रवृत्ति करनेमें रसनेन्द्रियकी लुब्धता न होकर लोकोपकार आदि कारण हो; परन्तु तो भी यह बहुत संभव है कि अन्य लोग हमारे मतलबको न समझ कर उसका अनुकरण करने लगेंगे। और इसका परिणाम यह होगा कि उनकी प्रवृत्ति अभक्ष-भक्षणकी ओर हो जायगी और उसका कारण हमारा यह आचरण ही कहा जायगा। अतएव यही अच्छा है कि ऐसी प्रवृत्ति न की जाय अर्थात् मुसलमान आदि जातियोंके घरका अन्नादिका आहार करना उचित नहीं है। तुम्हारी वृत्तियोंको देख कर इसी प्रकारका विश्वास होता है; परन्तु यही वृत्ति यदि इससे उतरती हुई हो तो वह अभक्ष आहारादिके

योगसे प्रायः उसी रास्ते पर जाने लग जायगी जो इसके लिए अहित मार्ग है। अतएव ऐसा ही विचार करना चाहिए जिससे ऐसे मौकोंसे दूर रहा जा सके। दयाके प्रति अधिक सहानुभूति रखना हो तो जहाँ हिंसाके स्थान हैं, तथा इस प्रकारकी वस्तुयें जहाँ खरीदी वेची जाती हैं वहाँ रहने तथा आने-जानेका अवसर न आने देना चाहिए; नहीं तो दयाके प्रति जैसी चाहिए वैसी सहानुभूति नहीं रह सकती। इसी प्रकार अभक्ष-की ओर अपनी वृत्तिको न जाने देनेके लिए और इस मार्गकी उन्नतिको अनुमोदन न देनेके लिए अभक्ष भक्षण करनेवालेके साथ भी आहारा-दिका सम्बन्ध न रखना चाहिए।

ज्ञान-दृष्टिसे देखने पर जाति आदिकी कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती; परन्तु भक्ष्याभक्ष्यका तो वहाँ भी विचार करना ही कर्तव्य है। और मुख्यतासे इसी लिए यह वृत्ति रखना उत्तम है। कितने ही कार्य ऐसे होते हैं कि उनमें प्रत्यक्ष दोष नहीं होता अथवा उनसे कोई दोष उत्पन्न भी नहीं होता; परन्तु उनके सहारे अन्य दोष रहते हैं, अतएव विचार-शीलोंको उनकी ओर भी लक्ष्य रखना उचित है। यह भी निश्चय नहीं माना जा सकता कि नैटालके लोगोंके उपकारार्थ तुम्हारी कभी ऐसी प्रवृत्ति होती होगी; क्योंकि यह तो तब माना जा सकता है जब दूसरी जगह ऐसी प्रवृत्ति करनेमें कोई रुकावट हो और उसे तुम न कर सको। और यह जान पड़ता है कि तुम्हारे इन विचारोंमें भी फर्क पड़ता जाता होगा कि उन लोगोंके उपकारार्थ ऐसी प्रवृत्ति करनी ही

चाहिए । तुम्हारी सद्वृत्तियों पर विश्वास है, अतएव इस विषयमें अधिक लिखना योग्य नहीं जान पड़ता । अन्तमें कहना यह है कि जिस प्रकार सदाचार और सद्विचारोंका पालन किया जा सके उसी प्रकार प्रवृत्ति करनी योग्य है ।

दूसरी नीची जाति तथा मुसलमानादिके यहाँ कभी कोई निमंत्रणका मौका आवे और अन्नाहारकी जगह न पकाया हुआ फलाहार करने पर उन लोगोंका उपकार संभव हो तो वैसा करना अच्छा है ।"

सं० १९५२, कुँवार विदी ३,
शुक्रवार—आणंद ।

अब अन्तमें इस विषयको समाप्त करनेके पहले तीन श्रेणीके लोगोंका ध्यान खास करके इस विषयकी ओर आकर्षित किया जाता है । सबसे पहले भारतवासियोंका लक्ष्य इस ओर खींचा जाता है । उन्हें सोचना चाहिए कि एक उन्नीस वर्षकी अवस्थावाले जिस व्यक्तिके सम्बन्धमें यह लिखा गया है कि "ऐसी महान् शक्तिका धारक यदि यूरप या अमेरिकामें होता तो वह बड़ी मान-मर्यादा लाभ करता, ऐश्वर्य-वैभव प्राप्त करता; और इसी प्रकार सरकार और प्रजा ऐसे व्यक्तिको उत्साहित कर एक उच्च प्रतिष्ठाके आसन पर विराजमान करती ।"—तब क्या भारतवासियोंको दुनियाके सामने यह बात प्रकट कर अभिमान नहीं करना चाहिए कि

भारतवर्षमें जो पहले असाधारण शक्तिके धारक माहात्मा-गण हो गये हैं उन्हींके प्रत्यक्ष उदाहरण-स्वरूप श्रीमद् राजचंद्र हैं। श्रीमद् राजचंद्रकी शासनके पुनरुद्धार-सम्बन्धी जो महत्त्वाकांक्षा थी उसे पूर्ण हुए विना ही वे मात्र वत्तीस वर्षकी अवस्थामें स्वर्गवासी हो गये। उस समय उनका जो वृत्तान्त प्रगट किया गया था उसका वहुत ही संक्षिप्त सार मृत्यु-समाचारके रूपमें उनके स्नेहियोंने अँगरेजीके प्रसिद्ध पत्र 'पायोनियर'में प्रकाशित होनेके लिए भेजा था। उसे देख कर 'पायोनियर'के स्वामीके हृदयमें श्रीमद् राजचंद्रके प्रति वहुत ही आदर बुद्धि हुई; और यही कारण था कि उस लेखको उन्होंने 'आजके भारतीय' शीर्षक देकर अग्रलेखके रूपमें प्रकाशित किया। इस शीर्षकके देनेसे उनका यह हेतु हो सकता है कि वे अपने पाठकोंको यह वात वतलाना चाहते थे कि इस जमानेमें भी ऐसे शक्तिशाली पुरुष होते हैं। एक छोटेसे लेखसे विदेशियोंको जव इतना अभिमान हुआ तव भारतवासियोंको—जो कि उनके विषयमें वहुत कुछ जानते हैं तथा जिन्होंने उनके विचारोंका पूर्ण अभ्यास-परिशीलन किया है—इसके लिए उन्हें कितना अभिमान करना चाहिए कि ऐसे पुरुष उनके देशमें उत्पन्न होते हैं।

इसके वाद आत्म-वादियोंको श्रीमद् राजचंद्रके प्रति अभिमान होना चाहिए। क्या एक भारीसे भारी नास्तिक या साइन्टिस्ट इस वातका खुलासा कर सकते हैं कि ऐसी शक्तियाँ कब और किस प्रकार श्रीमद् राजचंद्रको प्राप्त हुई? विश्वास है कि वे इस विषयका खुलासा करनेमें सफलता लाभ

नहीं कर सकेंगे । इस विषयमें यदि सफलता लाभ कर सकते हैं तो वे सिर्फ आत्मवादी लोग ही हैं। कारण आत्मवादी आत्माको नित्य मानते हैं। तब क्या यह अयोग्य कहा जायगा कि आत्मा नित्य है, और इस आत्म-वादको सिद्ध करनेके लिए श्रीमद् राजचंद्र प्रत्यक्ष उदाहरण थे? और यदि यह कहना अयोग्य नहीं है तो यह कहना क्या योग्य नहीं है कि आत्मवादियोंको श्रीमद् राजचंद्रके प्रति अभिमान होना चाहिए।

आत्मवादियोंके बाद जैनियोंका नम्बर है। और सच पूछो तो जैनि-योंको इसमें सबसे अधिक अभिमान करनेका कारण है। वे अपने अन्य अजैन बन्धुओंको यह बात बतला सकते कि हममें एक ऐसे पुरुष हो गये हैं कि जिनकी शक्तियोंको लोगोंने महान्, चमत्कार-पूर्ण, अद्भुत और असाधारण स्वीकार की है। एक बड़ेसे बड़ा नास्तिक जिस भाँति विचार करता है उसी प्रकरकी विचार-पद्धतिसे जिन्होंने छहों दर्शनोंका निरीक्षण अत्यन्त निष्पक्ष-बुद्धिसे और जैनमार्गके प्रति किसी प्रकारका भी मोह न बतला कर किया था; और इसके बाद ही जिनप्रणीत आत्म-स्वरूप और विश्व-व्यवस्थाका स्वरूप स्वीकार किया था। जैनियोंके लिए श्रीमद् राजचंद्र जिन-प्रणीत सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिए एक बहुत ही उत्तम और प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। और यदि ऐसा है तो इस विषयमें क्या जैनि-योंको अभिमान न करना चाहिए? प्रत्येक विचारशील मनुष्य इस बातको स्वीकार करेंगे कि इस जमानेमें जैनियोंके लिए अपने मार्गकी विशेष दृढ़ता करनेवाला इसकी अपेक्षा अन्य कारण भाग्यसे ही मिल सकता है।

परन्तु इस विषयमें अँगरेजीके प्रसिद्ध लेखक वर्कका कहना है कि अभी दुनिया इस विषयके समझनेके लिए पचास वर्ष पीछे है। इस कारण यह नहीं जान पड़ता कि जैनसमाज श्रीमद् राजचंद्रकी शक्तिको शीघ्र पहचान सकेगा। यह देखा जाता है कि समाजमें जब कोई ऐसा असाधारण पुरुष उत्पन्न होता है और वह अपने विचारोंको समाजके सामने विशेष विचारशीलता और स्वतंत्रताके साथ रखता है तो समाज उन विचारोंको सहन नहीं करता। इसका कारण यह है कि उसे जान पड़ता है वह व्यक्ति जो कुछ कहता है उसके विचार उससे बिलकुल जुदे हैं। परन्तु यदि ऐसे लोग या समाज जरा विचार-सहिष्णुताके साथ विचार करें तो उन्हें जान पड़ेगा कि वह व्यक्ति उनके विचारोंसे भिन्न कुछ भी नहीं कह रहा है; किन्तु वह इस बातके लिए प्रयत्न करता है कि उनके विचारोंकी उत्तमता लोग किस तरह समझें। कौन कह सकता है कि समाजमें ऐसी बुद्धि कब उत्पन्न होगी जब उसमें रूढ़ि-बद्ध विचारोंकी जगह स्वतंत्र पर पवित्र विचार-वातावरण फैलेगा।

इस विषयको समाप्त करते हुए एक अन्तिम बात और कहनी आवश्यक है, जिससे पाठक श्रीमद् राजचंद्रके आत्म-बलका कुछ पता पा सकेंगे। जब वे पूर्ण नीरोग थे तब उनका वजन १३२ पौंड था। बाद वह घटते घटते फिर मात्र ४३–४४ पौंड रह गया था। उनकी आयु जब मात्र ११ दिन की रह गई थी तब उन्होंने जिनमार्गके स्वरूप-वर्णनमें एक कविता लिखी थी। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए इस प्रकारकी कविता

करना सचमुच बिना आत्म-बलके कठिन है। उस कविताका भाव यह है—

योगीजन जिस अनन्त आत्म-स्वरूपके प्राप्तिकी इच्छा करते हैं वह मूल, शुद्ध आत्मपद सयोगी जिनका स्वरूप है।

"वह आत्म-स्वरूप अगम्य है, उसकी प्राप्तिका अवलम्बन–आधार– जिन-स्वरूपके द्वारा दिखलाया गया है।"

"जिनपद और निजपदमें कुछ भेद-भाव नहीं है, उसकी ओर लक्ष्य दिलानेके लिए यह सब शास्त्रोंकी रचना हुई है।"

"जिनसिद्धान्त अति दुर्गम है, बड़े बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी उसकी तह तक पहुँचनेमें हार मान जाते हैं। वही श्रीसद्गुरुके सहारेसे अति सुगम और सुख-रूप हो जाता है।

"अतिशय भक्ति-पूर्वक जिनचरणोंकी सेवा, संयम-पूर्वक मुनि-जनोंके समागममें अत्यन्त प्रेम, उनके गुणोंमें अत्यधिक आनन्द, आत्मामें उपयोग, तथा जैनसिद्धान्तकी प्राप्ति ये सब गुण सद्गुरुके द्वारा प्राप्त होते हैं।

'बिन्दुमें समुद्र समाजानेकी भाँति चौदह-पूर्वकी प्राप्तिका उदाहरण है।

"जिसकी बुद्धिकी प्रवृत्ति विषय-सम्बन्धी विकारोंसे युक्त है, और जिसके परिणाम विषम है उसके लिए योग-धारण किसी कामका नहीं।

"और जिसने विषयोंकी मन्दता, सरलता, जिनाज्ञाका पालन तथा

करुणा-कोमलता आदि गुण-रूप प्रथम भूमिका धारण कर शब्दादि विषयोंको रोक दिया है, जिसे संयमके साधनमें प्रेम है और संसार जिसे प्रिय नहीं लगता वह महाभाग मनुष्य मध्यम-पात्र है।

"और जिसे जीनेकी तृष्णा नहीं और मृत्युका क्षोभ नहीं वह आत्म-मार्ग-पथिक महा-पात्र है; और वही परम योगी और जित-लोभी है।

जिस भाँति सिर पर सूर्यके आनेसे छाया मनुष्यमें ही समा जाती है उसी भाँति आत्म-स्वभावमें आने पर मन भी आत्मामें ही समा जाता है।

"यह सारा संसार मोह-विकल्पसे उत्पन्न होता है; और अन्तर्दृष्टिसे देखने पर इसे नष्ट होते भी विलम्ब नहीं लगता।

"जो सुखका धाम है, सन्त जन जिसे चाहते हैं, और दिनरात उसीके ध्यानमें लीन रहते हैं, जो अत्यन्त शान्त-स्वरूप और अनन्त सुधामय है उस पदको—आत्माको—मेरा प्रणाम है। वह पद सदा जयवंत रहे।"

अब श्रीमद् राजचंद्रके आध्यात्मिक जीवनके सम्बन्धमें कुछ विशेष कहना नहीं है। सिर्फ एक बात और कहनेकी है; और वह यह है कि प्रारंभमें यह कहा जा चुका है कि उनका जीवन इस प्रकारका है कि वह चाहे जितने सादे रूपमें चित्रित किया जाये तब भी कुछ लोगोंको उसमें अतिशयोक्ति जान पड़ेगी और जिन लोगोंको श्रीमद् राजचंद्रके समागमका लाभ प्राप्त हुआ है उनमें इनकी शक्ति तथा दशाके सम्बन्धमें उलटी आदर-बुद्धि पैदा होगी। बल्कि उनके लिए

तो श्रीमद् राजचंद्रके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा गया है वह ऐसा है जैसा एक गूँगा अपनेको आये हुए स्वप्नका हाल न कह सके और इससे सुननेवालोंको दुःख हो। अब तक श्रीमद् राजचंद्रके सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है संभव है जो लोग श्रीमद् राजचंद्रसे परिचित नहीं है उन्हें यह कहना कुछ अतिशयोक्तिको लिये जान पड़े; परन्तु यदि उन्हें इनका परिचय हुआ होता तो वे यह कहने लगते कि श्रीमद् राजचंद्रकी शक्ति और दशाके सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया कहा गया है वह जगत्के भयसे बहुत ही थोड़ेमें कहा गया है और उसमें उनके विचारोंकी पूर्ण स्वतंत्रता दिखलाई नहीं गई है। दोनों पक्षके लोग जो कुछ भी कहें; परन्तु लेखकने उनके इस कहनेकी परवा न कर इतने ही कहनेका प्रयत्न किया है कि जितना उसे वर्तमान देश-कालके अनुकूल और समाजके लिये कल्याणकारी जान पड़ा है।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

श्रीमद् राजचन्द्रप्रणीत

आत्मसिद्धि ।

मंगल ।

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत ।
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत ॥ १ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय प्राप्तं दुःखमनन्तकम् ।
तत्पदं ज्ञापितं येन तस्मै सद्गुरवे नमः ॥ १ ॥

अर्थात्—जिस आत्म-स्वरूपके समझे विना जो मैंने भूत-कालमें अनन्त दुःख भोगे हैं उस स्वरूपका जिनने मुझे ज्ञान कराया अर्थात् भविष्य-कालमें जिन दुःखोंको मैं प्राप्त करता उनका मूल जिनने नष्ट कर दिया उन सद्गुरु प्रभुको मेरा नमस्कार है ।

वर्त्तमान आ काळमां, मोक्षमार्ग बहु लोप ।
विचारवा आत्मार्थीने, भाख्यो अत्र अगोप्य ॥२॥

वर्तमाने कलौ प्रायो मोक्षमार्गस्य लुप्तता ।
सोऽत्राऽतो भाष्यते स्पष्टमात्मार्थिनां विचारणे ॥२॥

अर्थात्—इस वर्तमान कालमें मोक्ष-मार्गका बहुत ही लोप हो गया है, उसी मार्गका गुरु-शिष्यके संवाद-रूपसे यहाँ स्वरूप कहा जाता है ।

कोइ क्रियाजड थइ रह्या, शुष्क ज्ञानमां कोइ ।
माने मारग मोक्षनो, करुणा उपजे जोइ ॥ ३ ॥

केचित् क्रियाजडा जाताः केचिद् ज्ञानजडा जनाः।
मन्वते मोक्षमार्गं तं दृष्ट्वाऽनुकम्पते मनः ॥ ३ ॥

अर्थात्—कितने केवल क्रिया-कांडमें ही लग रहे हैं और कितने केवल शुष्क-ज्ञानमें । और ऐसे लोग मोक्ष-मार्गका स्वरूप भी ऐसा ही मानते हैं । ऐसे लोगोंको देख कर दया आती है ।

समर्थन—जो लोग अपना मत-पक्ष छोड़ कर सद्गुरुके चरणोंकी सेवा करते हैं वे पदार्थके स्वरूपको जान पाते हैं और निज-पदकी—आत्मस्वरूपकी—ओर लक्ष देते हैं । अर्थात् वहुतसे लोग जो केवल जड़ क्रियाओं-में ही लगे रहते हैं, इसका कारण यह है कि उन्होंने उन असद्गुरुओंका आश्रय लिया है जो आत्म-ज्ञान और उसके साधनोंको जानते नहीं हैं । वे केवल जड़ क्रियाओं—कायक्लेश—का मार्ग जानते हैं, और उन्हींमें दूसरे लोगोंको लगाते हैं । इस प्रकार वे कुल-धर्मको दृढ़ करते रहते हैं; और इसी लिए फिर इन लोगोंके आश्रित जनोंको सद्गुरुओंका समागम प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; अथवा कभी समागम मिल भी जाय तो अपने पक्षकी दृढ़ वासना उन्हें सदुपदेशके सन्मुख होने नहीं देती । परिणाम इसका यह होता है कि उनका जड़ क्रियाओंसे छुटकारा नहीं हो पाता और न उन्हें परमार्थकी प्राप्ति होती है । और जो केवल शुष्क-ज्ञानी हैं उन्होंने भी सद्गुरुओंके चरणोंका आश्रय नहीं लिया; किन्तु केवल अपनी बुद्धिकी कल्पना पर भरोसा रख आध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़े हैं

अथवा अपने जैसे ही शुष्क-ज्ञानियोंके पास ऐसे ही ग्रन्थोंको पढ़ कर या उनके वचनोंका सुन कर अपनेको ज्ञानी समझ लिया है; और ज्ञानी बननेका जो एक प्रकारका अभिमान है वह उन्हें बड़ा मीठा जान पड़ता है और यही उनका पक्ष पड़ गया है । ऐसे लोग शास्त्रोंमें जो किसी विशेष कारणसे दया, दान, अहिंसा और पूजनकी समानता कही गई है उसका वास्तविक अर्थ समझे विना उन वचनोंका सहारा लेकर उनका उपयोग या तो अपनेको ज्ञानी बनानेके लिए करते हैं या बेचारे क्षुद्र प्राणियोंका तिरस्कार करनेके लिए ।

बाह्यक्रियामां राचता, अंतर्भेद न कांइ ।
ज्ञानमार्ग निषेधता, तेह क्रियाजड आंहि ॥ ४ ॥

बाह्यक्रियासमासक्ता विवेकविकला नराः ।
ज्ञानमार्गं निषेधन्तस्तेऽत्र क्रियाजडा मताः ॥ ४ ॥

अर्थात्—यहाँ पर 'क्रियाजड़' कहनेसे उन लोगोंसे मतलब है कि जो केवल बाह्य क्रियाओंमें ही रच-पच हो रहे हैं, आत्म-स्वरूपको कुछ नहीं जानते और ज्ञान-मार्गका निषेध करते हैं ।

बंध, मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणीमांहि ।
वर्त्ते मोहावेशमां, शुष्कज्ञानी ते आंहि ॥ ५ ॥

'कल्पितौ बन्ध-मोक्षौ स्तः' इति वाग् यस्य केवलम् ।
चरितं मोहनापूर्णं तेऽत्र ज्ञानजडा जनाः ॥ ५ ॥

अर्थात्—और शुष्क-ज्ञानी वे लोग हैं जो केवल वचनों द्वारा बड़ी

दृढ़ताके साथ कहा करते हैं कि बंध और मोक्ष यह मात्र कल्पना है; परन्तु ऐसी दशा उनकी अभी हुई नहीं है और उन पर मोहका प्रभाव खूब पड़ा हुआ है।

वैराग्यादि सफळ तो, जो सह आतमज्ञान।
तेम ज आतमज्ञाननी, प्राप्तितणां निदान ॥ ६ ॥

वैराग्यादि तदाऽवन्ध्यं यद्यात्मज्ञानयोगयुक्।
तथैव हेतुस्तच्चैव विवेकज्ञानप्राप्तये ॥ ६ ॥

अर्थात्—वैराग्य, त्याग आदि जितनी क्रियायें हैं वे तभी सफल हो सकती हैं जब कि उनके साथ साथ आत्म-ज्ञान भी हो—आत्मज्ञान होने पर ही ये सब मोक्षकी कारण हैं। और जहाँ आत्म-ज्ञान न हो; परन्तु आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए ये की जाती हों तो वहाँ आत्म-ज्ञान हीकी कारण हैं।

समर्थन—त्याग, वैराग्य, दया आदि जो क्रियायें हैं इनका अन्तरंग वृत्तिसे सम्बन्ध है, इस कारण यदि ये आत्म-ज्ञानके साथ साथ हों तो सफल होतीं हैं—संसारके कारणको नष्ट करती हैं, अथवा आत्म-ज्ञानकी कारण हैं। मतलब यह कि पहले इस गुणके होने पर ही आत्मामें सद्गुरुका उपदेश प्रविष्ट हो सकता है। अन्तःकरण शुद्ध हुए विना सद्गुरुका उपदेश हृदयमें प्रविष्ट नहीं हो सकता। अथवा यह समझना चाहिए कि ये वैराग्यादि आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं। यहाँ जो क्रिया-जड़ हैं उनके लिए यह उपदेश किया गया है कि केवल कायक्लेश करना आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिका कारण नहीं है; किन्तु वैराग्य आदि गुण आत्म-ज्ञानकी

प्राप्तिके कारण हैं, इस लिए तुम इन गुणोंको—क्रियाओंको—प्राप्त करो; परन्तु देखो, केवल इन्हींमें न लग जाओ। कारण आत्म-ज्ञानके बिना ये भी संसारके कारणोंको नष्ट नहीं कर सकेंगे। इस लिए आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके निमित्त तुम इन वैराग्य आदि गुणोंको धारण करो। और केवल कायक्लेशमें, जिसमें कि कषायें क्षीण नहीं की जा सकें, मोक्षका दुराग्रह न करो—समझो कि आत्म-ज्ञानके बिना केवल कायक्लेश कदापि मोक्षका कारण नहीं हो सकता। यह क्रिया-जड़ोंके लिए उपदेश है।

और जो शुष्क-ज्ञानी त्याग-वैराग्य आदिसे रहित हैं, मात्र वचनों द्वारा कहनेके लिए ज्ञानी हैं उनके लिए यह कहना है कि वैराग्य आदि साधन आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं; क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। जरा सोचो कि जब तुमने वैराग्य आदि ही प्राप्त नहीं कर पाया तब तुम आत्म-ज्ञान कहाँसे प्राप्त कर सकते हो? संसारके प्रति उदासीनता, देहादिकमें मूर्च्छा—ममत्व-का कम होना, भोगोंमें आसक्तिका न होना तथा मान आदिका अत्यन्त मंदपना होना आदि गुणोंके बिना आत्म-ज्ञानका कुछ परिणाम नहीं होता। और आत्म-ज्ञान होनेपर ये ही गुण अत्यन्त दृढ़ हो जाते हैं; क्योंकि इन गुणोंके धारणा करनेवालेको आत्म-ज्ञान-रूप मूल प्राप्त हो जाता है। और इसके विपरीत आत्म-ज्ञान न होने परभी तुम यह मानते हो कि हमें आत्म-ज्ञान है; किन्तु तुम्हारे आत्मामें तो विषय-भोगादिककी लालसा-रूपी आग जलती रहती है, पूजा-सत्कारादिककी बार-बार इच्छा जाग्रत होती रहती है; और जरा ही असाता का उदय आने पर—विपत्तिके समय—बहुत ही घबराहट पैदा हो जाती है। उस समय यह क्यों ध्यानमें नहीं आता कि ये आत्म-ज्ञानके

चिह्न नहीं हैं । उस समय यह बात जो समझमें नहीं आती कि मैं केवल मान आदिकी इच्छासे आत्म-ज्ञानी कहला रहा हूँ; इसे ही समझनेका तुम यत्न करो; और वैराग्यादि साधनोंको पहले आत्मामें उत्पन्न करो कि जिससे आत्म-ज्ञानकी सन्मुखता लाभ कर सको ।

त्याग, विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान ।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान ॥ ७ ॥

यस्य चित्ते न त्यागादि न हि स ज्ञानवान् भवेत् ।
ये तु त्यागादिसंसक्ता निजतां विस्मरन्ति ते ॥ ७ ॥

अर्थात्—जिसके चित्तमें त्याग और वैराग्य आदि साधन उत्पन्न न हुए हों उसे आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता; और जो केवल त्याग-वैराग्यादिमें ही लगा रह कर आत्म-ज्ञानकी इच्छा नहीं करता उसे अपना भान नहीं रहता । तात्पर्य यह कि उसके त्याग-वैराग्य अज्ञान-पूर्वक होनेके कारण वह पूजा-सत्कार, मान-मर्यादा आदिसे पराजित होकर आत्मार्थको भुला बैठता है ।

समर्थन—जिसके अन्तरंगमें त्याग-वैराग्य आदि गुण उत्पन्न नहीं हुए उस प्राणीको आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि मलिन अन्तरंग-दर्पणमें आत्मोपदेशका प्रतिबिम्ब पड़ना असंभव है । इसी प्रकार जो केवल त्याग-वैराग्यमें ही रत होकर अपनेको कृतार्थ समझ लेते हैं वे भी अपने आत्माका भान भूल जाते हैं । अर्थात् उनमें आत्म-ज्ञान न होनेसे अज्ञान उनका साथी रहता है; और जिससे कि उनकी संयमादिमें प्रवृत्ति त्याग-वैराग्यादिका मान उत्पन्न करनेका कारण बन जाती है । उससे

फिर संसारका उच्छेद नहीं हो सकता। वे फिर संसारमें ही फँसे रह जाते हैं—आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। इस प्रकार साधन-क्रिया और जिससे इन साधनोंकी सफलता हो सकती है उस आत्म-ज्ञानका 'क्रियाजड़ों' को उपदेश किया; और जो शुष्कज्ञानी हैं उन्हे त्याग-वैराग्य आदि साधनोंका उपदेश कर यह प्रेरणा की कि वचन-रूप ज्ञान-मात्रसे आत्म-कल्याण नहीं हो सकता।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवूँ तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह॥ ८॥

यद् यत्र वर्तते योग्यं तद् ज्ञेयं तत्र योगतः।
तत् तथैव समाचर्यमेतदात्मार्थिलक्षणम्॥ ८॥

अर्थात्—आत्मार्थी–अपना कल्याण चाहनेवाले–पुरुषोंका यह लक्षण है कि जहाँ जहाँ जो जो बातें योग्य जान पड़े उन्हें वे समझें और आचरण करें।

समर्थन—जिस जगह जो बातें योग्य हों उनके समझनेका यत्न करना आत्मार्थीको उचित है अर्थात् जहाँ त्याग-वैराग्य आदि योग्य हों वहाँ उन्हें और जहाँ आत्म-ज्ञान योग्य हो वहाँ आत्म-ज्ञानको समझना चाहिए। मतलब यह कि जहाँ जिसकी जरूरत हो वहाँ उसे समझ कर उसीके अनुसार जो अपनी प्रवृत्ति करते हैं वे आत्मार्थी जन हैं। आत्म-कल्याणकी कामना करनेवाले पुरुषोंके ये लक्षण हैं। *इसका पर्यवसान यह हुआ कि जो मतको चाहता है या मान-मर्या-*दाका इच्छुक है वह योग्य मार्गको ग्रहण नहीं कर सकता। अथवा जिन लोगोंने केवल क्रियाओंमें दुराग्रह ग्रहण कर रक्खा है या केवल

शुष्क-ज्ञानके अभिमानमें ही अपनेको ज्ञानी समझ लिया है वे वैराग्य आदि साधन या आत्म-ज्ञानको ग्रहण नहीं कर सकते। जो सच्चे आत्मार्थी होते हैं उन्हें जहाँ जहाँ जो जो बातें योग्य जान पड़ती हैं उनको वे करते हैं और जो जो समझने योग्य जान पड़ता है उसे समझते हैं। अथवा वे लोग आत्मार्थी हैं जो जहाँ जहाँ जो जो समझने योग्य होता है उसे समझते हैं और जो आचरण-योग्य जान पड़ता है उसे आचरण करते हैं। यहाँ 'समझना' और 'आचरण करना' ये दो सामान्य पद हैं, पर विभाग रूपमें इनके कहनेका मतलब यह है कि जहाँ जहाँ समझना उचित जान पड़ता है उसे समझनेकी और जहाँ आचरण करना उचित जान पड़ता है वहाँ आचरण करनेकी जिनकी इच्छा रहती है वे भी आत्मार्थी कहलाते हैं।

सेवे सद्गुरुचरणने, त्यागी दइ निजपक्ष।
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष॥ ९॥

यः श्रयेत् सद्गुरोः पादान् स्वाग्रहत्यागपूर्वकम्।
प्राप्नुयात् परमं तत्त्वं जानीयाद् निजतां ध्रुवम्॥ ९

अर्थात्—जो अपना पक्ष छोड़ कर सद्गुरुके चरणोंकी सेवा करते हैं वे परमार्थको प्राप्त होते हैं और आत्म-स्वरूपका उन्हें भान होता है।

आत्मज्ञान, समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग।
अपूर्ववाणी, परमश्रुत, सद्गुरुलक्षण योग्य॥ १०॥

आत्मज्ञानी समानेक्षी उदयाद् गतियोगवान्।
अपूर्ववक्ता सद्ज्ञानी सद्गुरुरेष उच्यते॥ १०॥

अर्थात्—जो आत्म-ज्ञानमें स्थित हैं, पर-भावकी इच्छासे जो रहित हैं—पर-वस्तुओंमें जिनकी आसक्ति या मोह नहीं है, शत्रु-मित्र, हर्ष-शोक, नमस्कार-तिरस्कार आदिमें जिनके समान भाव हैं, केवल पूर्व-कृत कर्मोंके कारण जिनकी आहार-विहार आदिमें इच्छा होती है, जिनकी वचन-शैली अज्ञानियोंसे प्रत्यक्ष भिन्न होती है और जो छहों दर्शनके आशयको अच्छी तरह समझे हुए होते हैं वे सच्चे सद्गुरु हैं या सद्गुरुके ये लक्षण हैं।

प्रत्यक्षसद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिनउपकार ।
एवो लक्ष थया विना, उगे न आत्मविचार ॥११॥

प्रत्यक्षसद्गुरुतुल्या परोक्षोपकृतिर्न हि ।
अकृत्वैतादृशं लक्ष्यं नोद्गच्छेदात्मचारणम् ॥ ११ ॥

अर्थात्—जब तक जीवका लक्ष पूर्व-कालमें हुए जिन भगवानकी बातों पर ही रहता है और वह उन्हींका उपकार गाया करता है; परन्तु जिन सद्गुरुके समागमसे प्रत्यक्ष आत्म-भ्रान्तिका समाधान हो सकता है उनमें, परोक्ष जिनभगवानके वचनोंकी अपेक्षा अधिक उपकार समाया हुआ है इस बातको जो नहीं जानता तब तक उसे आत्म-विचार उत्पन्न नहीं होता।

सद्गुरुना उपदेश वण, समजाय न जिनरूप ।
समज्या वण उपकार शो? समज्ये जिनस्वरूप१२

विना सद्गुरुवाचं हि ज्ञायते न जिनात्मता ।
ज्ञाने तु सुलभा सैवाऽज्ञाने उपकृतिः कथम् ? ॥१२॥

अर्थात्—सद्गुरुके उपदेश विना जिन भगवानका स्वरूप नहीं समझा जा सकता; और उनके स्वरूपको समझे विना आत्माका उपकार नहीं हो सकता । जो सद्गुरुका उपदेश किया जिन भगवानका स्वरूप समझमें आवे तभी समझनेवालेका आत्मा परिणाममें जिन-सदृश दशाको प्राप्त हो सकता है ।

आत्मादि अस्तित्वना, जेह निरूपक शास्त्र ।
प्रत्यक्ष सद्गुरु-योग नहीं, त्यां आधार सुपात्र ॥१३॥

यत्र प्रत्यक्षता नास्ति सद्गुरुतातपादीया ।
सत्पात्रे शरणं शास्त्रं तत्रात्मादिनिरूपकम् ॥ १३ ॥

अर्थात्—जो जिनागम आदि आत्मा तथा परलोकादिकके अस्तित्त्वका उपदेश करनेवाले हैं वे भी जहाँ सद्गुरुका समागम नहीं होता वहाँ सुपात्र—भव्य—प्राणिको आधार-रूप हैं; परन्तु सद्गुरुके सदृश भ्रांतिके नाश करनेवाले वे नहीं कहे जा सकते ।

अथवा सद्गुरुए कह्यां, जे अवगाहन काज ।
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज ॥१४॥

सद्गुरुणाऽथवा प्रोक्तं यद् यदात्महिताय तत् ।
नित्यं विचार्यतामन्तस्त्यक्त्वा पक्ष-मतान्तरम् ॥१४॥

अर्थात्–अथवा जो सद्गुरुने उन शास्त्रोंके पढ़नेकी आज्ञा दी हो तो

मत-पक्षको—कुलधर्मके पुष्ट करने आदि-रूप भ्रांतिको—छोड़ कर केवल आत्म-हितके लिए उन्हें पढ़ना चाहिए ।

रोके जीव स्वछंद तो, पामे अवश्य मोक्ष ।
पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष ॥१५॥

रुन्धीत जीवः स्वातन्त्र्यं प्राप्नुयान्मुक्तिमेव तु ।
एवमनन्ताः संप्राप्ता उक्तमेतज्जिनेश्वरैः ॥ १५ ॥

अर्थात्—आत्मा अनादिकालसे अपनी समझको अच्छा जान कर अपनी ही इच्छाके अनुसार चलता आ रहा है। इस चलनेको 'स्वच्छन्दता' कहते हैं। यदि वह इस स्वच्छन्दताके रोकनेका यत्न करे तो अवश्य मोक्षको प्राप्त हो सकता है । और वीतराग जिन प्रभुने, जिनमें राग-द्वेष-अज्ञान आदि एक भी दोषका नाम-निशान नहीं है, यह कहा है कि भूत-कालमें इसी मार्गसे अनन्त जीव मोक्षको प्राप्त हुए हैं ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगथी, स्वछंद ते रोकाय ।
अन्य उपाय कर्या थकी, प्राये बमणो थाय ॥१६॥

प्रत्यक्षसद्गुरुयोगात् स्वातन्त्र्यं रुध्यते तकत् ।
अन्यैस्तु साधनोपायैः प्रायो द्विगुणमेव स्यात् ॥ १६

अर्थात्—स्वच्छन्दता सद्गुरुके समागमसे रोकी जाती है; और अपनी इच्छाके अनुसार चलनेसे तो वह वहुतसे उपाय करने पर भी उल्टी दुगुनी बढ़ जाती है ।

स्वछंद, मत आग्रह तजी, वर्त्तें सद्गुरुलक्ष ।
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष ॥१७॥

वर्तनं सद्गुरुलक्ष्ये त्यक्त्वा स्वातन्त्र्यमात्मनः ।
मताग्रहं च, सम्यक्त्वमुक्तं प्रत्यक्षकारणात् ॥१७॥

अर्थात्—स्वच्छन्दता तथा अपने मतका आग्रह छोड़ कर जो सद्गुरुके उपदेशके अनुसार चलते हैं उस प्रवृत्तिको सम्यक्त्वका प्रत्यक्ष कारण गिन कर ही वीतराग प्रभुने 'सम्यक्त्व' कहा है ।

मानादिक शत्रु महा, निजछंदे न मराय ।
जातां सद्गुरुशरणमां, अल्प प्रयासे जाय ॥ १८ ॥

स्वातन्त्र्यान्न हि हन्यन्ते महामानादिशत्रवः ।
सद्गुरोः शरणे प्राप्ते नाशस्तेषां सुसाधनः ॥ १८ ॥

अर्थात्—मान और पूजा-सत्कारादिका लोभ आदि (आत्माके) वड़े भारी शत्रु हैं । अपनी समझके अनुसार चलनेसे ये नष्ट नहीं हो सकते; और सद्गुरुकी शरण जानेसे साधारण प्रयत्नसे ही नष्ट हो जाते हैं ।

जे सद्गुरुउपदेशथी, पाम्यो केवळज्ञान ।
गुरु रह्या छद्मस्थ पण, विनय करे भगवान ॥१९॥

यत्सद्गुरूपदेशो यः प्रापद् ज्ञानमपश्चिमम् ।
छाद्मस्थ्येऽपि गुरोस्तस्य वैयावृत्त्यं करोति सः ॥१९

अर्थात्—जो सद्गुरुके उपदेशसे स्वयं तो केवलज्ञानको प्राप्त हो गये

और उनके गुरु अब तक छद्मस्थ—अल्पज्ञानी—ही हैं तो भी जो केवलज्ञानी हुए हैं वे अपने छद्मस्थ गुरुकी वैयावृत्य—सेवा-सुश्रूषा—करते हैं ।

एवो मार्ग विनयतणो, भाख्यो श्रीवीतराग ।
मूळ हेतु ए मार्गनो, समजे कोइ सुभाग्य ॥ २० ॥

विनयस्येदृशो मार्गो रूपितः श्रीजिनेश्वरैः ।
एतन्मार्गस्य मूलं तु कश्चिज्जानाति भाग्यवान् ॥२०॥

अर्थात्—जिन भगवानने विनयका मार्ग उक्त प्रकार कहा है। इस मार्गके मूल कारण आत्माका इसके द्वारा क्या उपकार होता है, इस बातको कोई ही भाग्यशाली—बुद्धिमान—अथवा आराधक जीव समझ पाता है ।

असद्गुरु ए विनयनो, लाभ लहे जो कांइ ।
महामोहनीयकर्मथी, बुडे भवजळ मांहि ॥ २१ ॥

यद्यसद्गुरुरेतस्य किञ्चिल्लाभं लभेत तु ।
महामोहवशान्मज्जेद् भवाम्भोधौ भयंकरे ॥ २१ ॥

अर्थात्—ऊपर जो विनयका मार्ग बतलाया गया है उसे अपने शिष्योंके द्वारा करानेकी इच्छा करके—अपना वैयावृत्य करानेकी इच्छासे—कोई कुगुरु अपनेमें सुगुरुकी कल्पना करे तो समझना चाहिए कि वह तीव्र मोहनीय कर्मका बन्ध कर भव-सागरमें डूबना चाहता है।

होय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार ।
होय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार ॥ २२ ॥

मुमुक्षुर्यदि जीवः स्याज्ज्ञानातीमां विचारणाम् ।
मतार्थी यदि जीवः स्याज्ज्ञानीयाद् विपरीतताम् ॥

अर्थात्—जो जीव मोक्षका इच्छुक होता है वह तो इस विनय-मार्गका विचार कर उसे समझ लेता है और जो मताग्रही होता है वह उसका उल्टा निश्चय करता है। मतलब यह कि इस विनय-मार्गका उपयोग या तो वह शिष्यादिके पाससे अपनी सेवा-सुश्रूषा करानेमें करता है या कुगुरुमें सुगुरुका भ्रम करके उसका उपयोग करता है।

होय मतार्थी तेहने, थाय न आतमलक्ष ।
तेह मतार्थीलक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष ॥ २३ ॥

मतार्थी पुरुषो यः स्यान्नात्मान्वेषी स संभवेत् ।
तस्याऽत्र लक्षणं प्रोक्तं पक्षदोषविवर्जितम् ॥ २३ ॥

अर्थात्—जो मताग्रही होता है उसका आत्म-ज्ञानकी ओर लक्ष नहीं रहता। ऐसे ही मताग्रही लोगोंके यहाँ पर पक्षपात रहित लक्षण कहे जाते हैं।

बाह्यत्याग पण ज्ञान नहीं, ते माने गुरु सत्य ।
अथवा निजकुळधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व ॥२४॥

ज्ञानहीनं गुरुं सत्यं बाह्यत्यागपरायणम् ।
मन्येत, वा ममत्वं वै कुलधर्मगुरौ धरेत् ॥ २४ ॥

अर्थात्—जो केवल बाह्यसे त्यागीसा दिखाई पड़ता हो, पर जिसे आत्म-ज्ञान न हो, तथा अन्तरंग त्याग भी न हो, ऐसे गुरुको जो सच्चा

गुरु समझता है अथवा अपने कुल-धर्मके जैसे तैसे गुरुमें ही ममत्व-भाव रखता है;—

जे जिनदेहप्रमाणने, समवसरणादि सिद्धि ।
वर्णन समजे जिननुं, रोकि रहे निजबुद्धि ॥ २५ ॥

जिनस्य ऋद्धिं देहादिमानं च जिनवर्णनम् ।
मनुते, स्वीयबुद्धिं यस्तत्रैवाऽभिनिविशते ॥ २५ ॥

अर्थात्—जो जिन भगवानके शरीरादिके वर्णनको खास उन्हींका वर्णन समझता है, और उन्हें अपने कुल-परम्पराके देव होनेके कारण अहंभाव-रूप कल्पित राग-वश उनके समवशरणादिका माहात्म्य गाता रह कर उसीमें अपनी बुद्धिको रोके रखता है; अर्थात् जिन भगवानका जो जानने योग्य परमार्थका कारण अन्तरंग स्वरूप है उसे नहीं जानता है और न उसके जाननेका ही प्रयत्न करता है तथा मात्र समवशरणादिमें ही जिन भगवानका स्वरूप बतला कर अपने मताग्रहमें (मस्त) रहता है;—

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां, वर्त्ते दृष्टि विमुख ।
असद्गुरुने दृढ करे, निजमानार्थे मुख्य ॥ २६ ॥

प्रत्यक्षसद्गुरोर्योगे कुर्याद् दृष्टिविमुखताम् ।
योऽसद्गुरुं दृढीकुर्यान्निजमानाय मुख्यतः ॥ २६ ॥

अर्थात्—कभी प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग भी मिले तो उनकी दुराग्रहके नाश करनेवाली वाणीको सुन कर उससे उल्टे चलता है, अर्थात् उनके

हितकारी उपदेशको ग्रहण नहीं करता, और स्वयं सच्चे मुमुक्षु बननेके अभिमानके लिए कुगुरुके पास जाकर उनके प्रति अपनी बड़ी दृढ़ता जनाता है;—

देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान।
माने निजमतवेषनो आग्रह मुक्तिनिदान॥ २७॥

देवादिगतिभङ्गेषु जानीयाच्छ्रुतज्ञानताम्।
मन्यते निजवेषं यो मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥ २७॥

अर्थात्—नरकादि गतिके 'भंग' (विकल्प) आदिका स्वरूप जो किसी विशेष परमार्थके कारण कहा गया है उसके मतलबको न समझ कर उस भंगजालको ही श्रुतज्ञान समझता है तथा अपने मतका वेष धारण करनेमें ही मुक्तिका कारण मानता है;—

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान।
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान॥ २८॥

अप्राप्ते लक्षणे वृत्तेर्वृत्तिमत्त्वाभिमानिता।
परमार्थं न विन्देद् यो लोकपूजार्थमात्मनः॥ २८॥

अर्थात्—जो वृत्तिका (त्याग-वृत्तिका या व्रतका) स्वरूप तो समझता नहीं और यह अभिमान करता है कि मैं व्रती हूँ, और कभी परमार्थके उपदेशका योग मिल भी जाय तो संसारमें अपनी मान-मर्यादाके नष्ट हो जानेके भयसे अथवा यह समझ कर, कि वह पीछी न मिल सकेगी, परमार्थको ग्रहण नहीं करता;—

अथवा निश्चयनय ग्रहे मात्र शब्दनी मांय ।
लोपे सद्व्यवहारने, साधनरहित थाय ॥ २९ ॥

यः शुष्कः शब्दमात्रेण मन्येत निश्चयं नयम् ।
सद्व्यवहारमालुम्पेद् गच्छेच्च हेतुहीनताम् ॥ २९ ॥

अर्थात्—अथवा जो 'समयसार' या 'योगवासिष्ठ'के जैसे ग्रन्थोंको पढ़ कर केवल कहने (या दिखाने के) लिए निश्चय-नयको ग्रहण करता है; परन्तु जिसके अन्तरंगको वह गुण छूभी नहीं जाता; और सद्गुरु, सच्चे शास्त्र तथा वैराग्य-विवेकादि यथार्थ व्यवहारको नष्ट करता है और इसी तरह अपनेको ज्ञानी समझ कर साधन रहित आचरण करता है;—

ज्ञानदशा पाम्यो नहीं, साधनदशा न कांइ ।
पामे तेनी संग जे, ते बुडे भवमांहि ॥ ३० ॥

ज्ञानावस्थां न यः प्राप्तस्तथा साधनसद्दशाम् ।
कुर्वाणस्तेन संगं ना ब्रुडेत् संसारसागरे ॥ ३० ॥

अर्थात्—ऐसा जीव ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और इसी प्रकार वैराग्यादि साधनोंको प्राप्त नहीं कर पाता; और इसी कारण जो ऐसे जीवोंकी संगति करते हैं वे भी भवसागरमें डूब जाते हैं ।

ए पण जीव मतार्थमां, निजमानादि काज ।
पामे नहीं परमार्थने, अनअधिकारीमांज ॥ ३१ ॥

मतार्थी जीव एषोऽपि स्वीयमानादिहेतुना ।
प्राप्नुयान्न परं तत्त्वमनधिकारिकोटिगः ॥ ३१ ॥

अर्थात्—ये जीव भी मतके पक्षपाती हैं; क्योंकि जिस प्रकार ऊपर कहे हुए जीवोंको कुल-धर्मादिका पक्षपात है उसी प्रकार ये ज्ञानी गिने जानेके मानकी इच्छासे अपने शुष्क मतका आग्रह करते हैं। इस लिए ये भी परमार्थको प्राप्त नहीं हो सकते; और इसी कारण फिर ये उन अनधिकारी जीवोंमें गिने जाने लगते हैं जिनमें कि ज्ञानका कुछ परिणाम नहीं होता ।

नहीं कषाय उपशांतता, नहीं अंतवैराग्य ।
सरळपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य ॥३२॥

कषायोपशमो नैव नान्तर्विरक्तिमत् तथा ।
सरलत्वं न माध्यस्थ्यं तद् दौर्भाग्यं मतार्थिनः ॥३२

अर्थात्—जिसकी क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायें नहीं घटी हैं—मन्द नहीं पड़ी हैं, जिसके अन्तरंगमें वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ है, जिसके आत्मामें गुण ग्रहण करने-रूप सरलता नहीं है, और इसी प्रकार जिसकी दृष्टि सत्यासत्यकी तुलना करनेके लिए पक्षपात रहित नहीं है वह मत-पक्षपाती जीव बड़ा ही अभागी है । अर्थात् उसका भाग्य ऐसा नहीं जो जन्म-जरा-मरणका नाश करनेवाले मोक्ष-मार्गको प्राप्त कर सके ।

लक्षण कह्यां मतार्थीनां, मतार्थ जावा काज ।
हवे कहुं आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥३

मतार्थिलक्षणं प्रोक्तं मतार्थत्यागहेतवे ।
आत्मार्थिलक्षणं वक्ष्येऽधुनाऽऽत्मसुखहेतवे ॥ ३३ ॥

अर्थात्—इस प्रकार मताग्रही जीवके लक्षण कहे गये । ये इस लिए कहे गये कि इन्हें समझ कर अन्य जन अपना मताग्रह छोड़ सकें । अब आत्मार्थीके लक्षण कहे जाते हैं । ये लक्षण आत्माके लिए अव्याबाध–विघ्न-बाधा-रहित–सुखके साधन हैं ।

आत्मार्थी मनुष्यके लक्षण ।

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय ।
बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी जन जोय ॥३४॥
आत्मज्ञानं भवेद् यत्र तत्रैव गुरुता ऋता ।
कुलगुरोः कल्पना ह्यन्या एवमात्मार्थिमान् ना ॥ ३४

अर्थात्—जहाँ आत्म-ज्ञान होता है वहाँ मुनिपद होता है, आत्म-ज्ञानके विना मुनिपद कभी नहीं हो सकता । आचारांग सूत्रमें कहा है कि "जं संमति पासह तं मोणंति पासह" अर्थात् जहाँ सम्यक्त्व–आत्म-ज्ञान–होता है वहीं मुनिपद होता है । मतलव यह है कि जिनमें आत्म-ज्ञान होता है वे ही सच्चे गुरु होते हैं; और जो आत्म-ज्ञानके न होने पर भी अपने कुल-गुरुको सद्गुरु मानना है यह मात्र कल्पना है । आत्मार्थी जानता है कि इस कल्पना मात्रसे संसारका नाश नहीं हो सकता ।

प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्तिनो, गणे परम उपकार।
त्रणे योग एकत्वथी, वर्ते आज्ञाधार ॥ ३५ ॥

प्रत्यक्षसद्गुरुप्राप्तेर्विन्देदुपकृतिं पराम्।
योगत्रिकेन एकत्वाद् वर्तेताऽऽज्ञापरो गुरोः ॥३५॥

अर्थात्—आत्मार्थी जन सद्गुरुके लाभको बड़ा भारी उपकार समझते हैं। इस लिए कि जिन बातोंका शास्त्रादिके द्वारा समाधान नहीं हो सकता, और जो दोष सद्गुरुकी आज्ञा पाले बिना नहीं मिट सकते, सद्गुरुके समागमसे उन बातोंका (ठीक) समाधान हो जाता है और वे दोष भी मिट जाते हैं। इसी लिए आत्मार्थी जन प्रत्यक्ष सद्गुरुके समागमको बड़ा भारी उपकार मानते हैं और मन-वचन-कायसे उनकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं।

एक होय त्रण कालमां, परमार्थनो पंथ।
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत ॥ ३६ ॥

त्रिषु कालेषु एकः स्यात् परमार्थपथो ध्रुवम्।
प्रेरयेत् परमार्थं तं ग्राह्यो व्यवहार आमतः ॥ ३६ ॥

अर्थात्—परमार्थ-मार्ग—मोक्ष-मार्ग—तीनों कालमें एक ही है; और जिस व्यवहारसे यह परमार्थ सिद्ध हो सके—प्राप्त किया जा सके—वही व्यवहार जीवोंको मानना चाहिए; अन्य नहीं।

एम विचारी अंतरे, शोधे सद्गुरुयोग।
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहीं मन रोग ॥३७॥

अन्तरेवं समालोच्य शोधयेत् सद्गुरोर्युजिम् ।
कार्यमात्मार्थमेकं तद् नापरा मानसी रुजा ॥ ३७ ॥

अर्थात्—इस प्रकार हृदयमें विचार कर सद्गुरुके समागमके लिए यत्न करना चाहिए; और मनमें केवल एक आत्म-हितकी इच्छा होनी चाहिए—मान-पूजादिक तथा रिद्धि-सिद्धि आदि किसी प्रकारकी इच्छा न होनी चाहिए—यह रोग है इसका न होना ही अच्छा है ।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्षअभिलाष ।
भवे खेद, प्राणीदया, त्यां आत्मार्थनिवास ॥ ३८ ॥

उपशान्तिः कषायाणां निर्वाणे केवलं गृधिः ।
भवे खेदो दया सत्त्वे तत्राऽऽत्मार्थत्वसंगतिः ॥ ३८ ॥

अर्थात्—उस जीवमें आत्म-हितकी स्थिति हो सकती है कि जिसकी कषायें मन्द पड़ गई हों, जिसे एक मोक्ष-पदके सिवा किसी अन्य-पदकी लालसा न हो और संसार पर जिसे दया हो ।

दशा न एवी ज्यांसुधी, जीव लहे नहीं जोग ।
मोक्षमार्ग पामे नहीं, मटे न अंतरोग ॥ ३९ ॥

एतादृशीं दशां यावद् योग्यां जीवो लभेत न ।
मुक्तिमार्गं न प्राप्नोति तावच्चाऽस्त्यान्तरी रुजा ॥ ३९ ॥

अर्थात्—जीव जब तक इस प्रकारकी योगावस्था प्राप्त न करले तब तक उसे मोक्ष-मार्गकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती; और आत्म-भ्रान्ति-रूप अनन्त दुःखका कारण अन्तरंग रोग भी नहीं मिट सकता ।

आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय ।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥ ४० ॥

स्यादीदृशी दशा यत्र सद्गुरुबोधपूर्विका ।
सद्विचारः तयाऽऽविस्स्यात् सुखदोऽदुःखदो नृणाम्

अर्थात्—ऐसी अवस्था होने पर ही सद्गुरुका उपदेश उपयोगी—कार्यकारी—हो सकता है; और इसी उपदेशसे परिमाणमें श्रेष्ठ विचार करनेकी योग्यता प्रकट होती है ।

ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान ।
जे ज्ञाने क्षय मोह थइ, पामे पद निर्वाण ॥ ४१ ॥

सद्विचारो भवेद् यत्र तत्राऽऽत्मत्वप्रकाशनम् ।
तेन मोहं क्षयं नीत्वा प्राप्नुयान्निर्वृतिपदम् ॥ ४१ ॥

अर्थात्—और जहाँ श्रेष्ठ विचार करनेकी योग्यता प्रकट होती है वहीं आत्म-ज्ञान-प्रकट होता है; और इसी ज्ञानसे आत्मा मोहनीय कर्मका क्षय करके निर्वाण लाभ करता है ।

उपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय ।
गुरु-शिष्यसंवादथी, भाखुं षट्पद आंहि ॥ ४२ ॥

संभवेत् सद्विचारो यैः सुज्ञानं मुक्तिवर्त्म च ।
तानि वक्ष्ये पदानि षट् संवादे गुरु-शिष्ययोः ॥ ४२

अर्थात्—जिससे श्रेष्ठ विचार करनेकी योग्यता उत्पन्न हो सके और

मोक्ष-मार्ग समझमें आ जाय वह विषय छह पदों द्वारा गुरु-शिष्यके संवादरूपसे कहा जाता है ।

'आत्मा छे,' 'ते नित्य छे,' 'छे कर्त्ता निजकर्म'।
'छे भोक्ता,' वळी 'मोक्ष छे' 'मोक्षउपाय सुधर्म' ॥४३

जीवोऽस्ति स च नित्योऽस्ति कर्ताऽस्ति निजकर्मणः।
भोक्तास्ति च पुनर्मुक्तिर्मुक्त्युपायः सुदर्शनम् ॥ ४३

अर्थात्—'आत्मा है,' 'वह नित्य है,' 'अपने कर्मोंका कर्त्ता हैं,' कर्मोंका भोक्ता है,' 'उससे मोक्ष होता है,' और 'वह मोक्षका उपाय-रूप सद्धर्म है' ।

षट्स्थानक संक्षेपमां, षट्दर्शन पण तेह ।
समजावा परमार्थने, कह्यां ज्ञानीए एह ॥ ४४ ॥

षट्स्थानीयं समासेन दर्शनानि षडुच्यते ।
[षड्दर्शन्यपि उच्यते]
प्रोक्ता सा ज्ञानिभिर्ज्ञातुं परं तत्त्वं धरास्पृशाम् ॥४४

अर्थात्—ये जो छह स्थानक या छह पद यहाँ संक्षेपमें कहे गये हैं विचार करनेसे जान पड़ेगा कि छह दर्शन भी ये ही हैं। इन छहों पदोंको ज्ञानी जनोंने परमार्थ समझानेके लिए कहा है ।

शिष्यकी शंका ।

पहले स्थानकके सम्बन्धमें शिष्य कहता है—

नथी दृष्टिमां आवतो, नथी जणातुं रूप ।
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीवस्वरूप ॥ ४५

अदृश्यत्वादरूपित्वाज्जीवो नास्त्येव भेदभाक् ।
अनुभूतेरगम्यत्वान्नृशङ्कत्येव केवलम् ॥ ४५ ॥
[नृशङ्कत्येव भो गुरो !]

अर्थात्—जीव न दृष्टिमें आता है, न उसका कोई रूप ही दिखाई देता है, और न इसी प्रकारके अन्य अनुभवोंसे उसका ज्ञान होता है। इस लिए जान पड़ता है कि जीवका कोई स्वरूप नहीं है—जीव ही नहीं है।

अथवा देहज आतमा, अथवा इंद्रिय प्राण ।
मिथ्या जूदो मानवो, नहीं जूदुं एंधाण ॥ ४६ ॥

देह एव वा जीवोऽस्ति प्राणरूपोऽथवा स च ।
इन्द्रियात्मा तथा मन्यो नैवं भिन्नो ह्यलक्षणः ॥ ४६

अर्थात्—अथवा देह ही आत्मा है, इन्द्रियाँ ही आत्मा है, या श्वासोच्छ्वास ही आत्मा है। मतलब यह कि ये सब देह-रूप ही हैं। इस लिए आत्माको इनसे जुदा मानना मिथ्या है; क्योंकि उसके कोई ऐसे चिह्न नहीं दिखाई पड़ते जिससे कि वह जुदा समझा जाय।

वळी जो आत्मा होय तो, जणाय ते नहीं केम?
जणाय जो ते होय तो; घट पट आदि जेम ॥४७॥

यदि स्याद् भेदवान् जीवोऽनुभूयेत कथं न हि ?।
यदस्ति सकलं तत् तु ज्ञायते कच-काचवत् ॥ ४७

अर्थात्—और इतने पर भी यह आत्मा जुदा माना जाय तो फिर वह जाननेमें क्यों नहीं आता ? जिस भाँति घट-पट आदि पदार्थ हैं और वे जाने जाते हैं उसी भाँति यदि आत्मा है तो वह जाननेमें क्यों नहीं आता ?

माटे छे नहीं आतमा, मिथ्या मोक्षउपाय।
ए अंतर्शंकातणो, समजावो सदुपाय ॥ ४८ ॥

अरेऽतो नैव आत्माऽस्ति ततो मुक्तिप्रथा वृथा।
एनामाभ्यन्तरीं रेकामुत्कीलय प्रभो! प्रभो! ॥४८॥

अर्थात्—इस लिए यही कहना चाहिए कि आत्मा है ही नहीं, और जब आत्मा नहीं है तब उसके लिए मोक्ष-प्राप्तिका उपाय करना भी निष्फल है। हृदयकी इन शंकाओंके दूर करनेका कोई उत्तम उपाय हो तो मुझे समझाइए—इनका समाधान हो सकता हो तो कृपा करके मुझे सन्तुष्ट कीजिए।

सद्गुरुका उत्तर ।

इस पर सद्गुरुने कहा, हाँ, 'आत्मा है,' और वह इस प्रकार सिद्ध हो सकता है—

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगटलक्षणे भान ॥ ४९ ॥

अध्यासाद् भासिता देह-देहिनोः समता, न सा ।
तयोर्द्वयोः सुभिन्नत्वाल्लक्षणैः प्रकटैरहो ! ॥ ४९ ॥

अर्थात्—अज्ञानके कारण जो अनादि कालसे देहका गाढ़ सम्बन्ध हो रहा है उससे तुझे आत्मा देहके जैसा भासमान हो रहा है; परन्तु वास्तवमें आत्मा और देह दोनों ही जुदे जुदे हैं; क्योंकि दोनोंके लक्षण भिन्न भिन्न दिखाई पड़ते हैं ।

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥ ५० ॥

अध्यासाद् भासिता देह-देहिनोः समता, न सा ।
तयोर्द्वयोः सुभिन्नत्वादसिकोशायते ध्रुवम् ॥ ५० ॥

अर्थात्—अज्ञानके कारण जो अनादि कालसे देहका गाढ़ सम्बन्ध हो रहा है उससे तुझे देह ही आत्माके जैसा भासमान हो रहा है; परन्तु

जिस भाँति तलवार और म्यान एक म्यान-रूप जान पड़ने पर भी वास्तवमें दोनों ही भिन्न भिन्न हैं उसी भाँति आत्मा और देह भिन्न भिन्न हैं।

जे द्रष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप।
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥ ५१ ॥
दृष्टेर्द्रष्टाऽस्ति यो वेत्ति, रूपं सर्वप्रकारगम्।
भात्यऽबाध्याऽनुभूतिर्या साऽस्ति जीवस्वरूपिका ५१

अर्थात्—आँखें आत्माको नहीं देख सकतीं; किन्तु आत्मा ही आँखोंको देखता है और आँखें केवल स्थूल रूपको देख सकती हैं, किन्तु आत्मा स्थूल-सूक्ष्म आदि सबको जानता है। इसके सिवा इन्द्रिय-जन्य ज्ञानमें तो अन्य कारणोंसे रुकावट आ सकती है, परन्तु इसके ज्ञानमें कोई रुकावट नहीं पहुँचा सकता। अतएव यही ज्ञान या अनुभव आत्माका स्वरूप है।

छे इंद्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनुं ज्ञान।
पांच इंद्रिना विषयनुं, पण आत्माने भान ॥ ५२ ॥
स्वस्वविषये संज्ञानं प्रतीन्द्रियं विभाति भोः!।
परं तु तेषां सर्वेषां जागर्ति मानमात्मनि ॥ ५२ ॥

अर्थात्—जो कानोंसे सुना जाता है उसका ज्ञान कानोंको होता है आँखोंको उसका ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार आँखोंसे देखी हुई वस्तुको कान नहीं देख सकते अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियको अपने ही अपने विषयका ज्ञान होता है, दूसरी इन्द्रियोंके विषयोंका ज्ञान नहीं होता; और आत्माको तो पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंका ज्ञान होता है। मतलब यह कि

पाँचों ही इन्द्रियोंके ग्रहण किए हुए विषयोंको जो जानता है वही आत्मा है। और जो यह कहा गया है कि आत्माके विना एक इन्द्रिय एक एक विषयको ग्रहण करती है वह उपचारसे कहा है।

देह न जाणे तेहने, जाणे न इंद्रि प्राण।
आत्मानी सत्तावडे, तेह प्रवर्ते जाण ॥ ५३ ॥

न तद् जानाति देहोऽयं नैव प्राणो न चेन्द्रियम्।
सत्तया देहिनो देहे तत्प्रवृत्तिं निबोध रे ! ॥ ५३ ॥

अर्थात्—आत्माको न देह जानता है, न इन्द्रियाँ जानती हैं और न श्वासोच्छ्वास ही जानते हैं; किन्तु ये सब ही उल्टे आत्माके सहयोगसे अपनी अपनी प्रवृत्ति कर रहे हैं। समझो कि आत्माका यदि इनको सहयोग न मिले तो ये जड़ ही बन रहें।

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय।
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एंधाणे सदाय ॥ ५४ ॥

योऽवस्थासु समस्तासु ज्ञायते भेदभाक् सदा।
चेतनतामयः स्पष्टः स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥ ५४ ॥

अर्थात्—आत्मा जाग्रत, स्वप्न और निद्रावस्थामें प्रवृत्ति करता हुआ भी इन अवस्थाओंसे जुदा रहता है; और इनसे भिन्न दशामें उसका अस्तित्व बना रहता है। वह इन अवस्थाओंका जाननेवाला प्रकट चैतन्य-स्वरूप है। मतलब यह कि जानना उसका प्रकट-स्वभाव है और

यह चिह्न उसमें सदा मौजूद रहता है—किसी समय इस चिह्नका उसमें नाश नहीं होता।

घट, पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान।
जाणनार ते मान नहीं, कहिये केवुं ज्ञान? ॥ ५५॥

घटादिसर्वं जानासि अतस्तन्मन्यसे शिशो।
तं न जानासि ज्ञातारं तद् ज्ञानं ब्रूहि कीदृशम् ॥५५

अर्थात्—तू स्वयं जिन घट-पट आदि पदार्थोंको जानता है तेरा विश्वास है कि वे हैं; परन्तु वास्तवमें जो उन घट-पटादिका जाननेवाला है उस पर तेरा विश्वास नहीं, तेरे इस ज्ञानको क्या कहा जाय?

परम बुद्धि कृप देहमां, स्थूल देह मति अल्प।
देह होय जो आतमा, घटे न आम विकल्प ॥५६॥

कृशे देहे घना बुद्धिरघना स्थूलविग्रहे।
स्याद् देहो यदि आत्मैव नैवं तु घटना भवेत् ॥५६

अर्थात्—दुबले-पतले देहवालेकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण, और स्थूल देहवालेकी बुद्धि स्थूल देखनेमें आती है, सो यदि देह ही आत्मा होता तो इस प्रकारका विरोध दिखाई पड़नेका मौका न आता।

जड चेतननो भिन्न छे, केवळ प्रगट स्वभाव।
एकपणुं पामे नहीं, त्रणे काळ द्वयभाव ॥ ५७॥

केवलं भिन्न एवाऽस्ति स्वभावो जड-जीवयोः।
कदापि न तयोरैक्यं द्वैतं कालत्रिके तयोः ॥ ५७॥

अर्थात्—जिस वस्तुमें कभी जाननेकी शक्ति या स्वभाव नहीं होता वह जड़ है और जानना जिसका सदा स्वभाव है वह चैतन्य है। इस प्रकार जड़ और चेतन्य दोनोंका भिन्न भिन्न स्वभाव है; और वह स्वभाव कभी एक न होगा। दोनोंकी भिन्नता इस बातसे अनुभवमें आती है कि तीनों कालमें जड़ जड़ बना रहेगा और चैतन्य चैतन्य।

समर्थन—तीर्थंकर प्रभुका कहना है कि संसारमें लोगोंने जीवको चाहे जैसा कहा हो और वह चाहे जैसी स्थितिमें हो उसके सम्बन्धमें हमारी उदासीनता है। हमने तो उसका जैसा निराबाध स्वरूप जान पाया है उसे उसी प्रकार प्रकट किया है। हमने आत्माके जो लक्षण कहे हैं वे सब प्रकार निराबाध हैं। हमने उसे ऐसा ही जाना है, देखा है और स्पष्ट अनुभव किया है। वास्तवमें ऐसा ही आत्मा है।

आत्माका लक्षण 'समता' है। जो आत्माकी असंख्य प्रदेशात्मक चैतन्य-स्थिति है यही स्थिति इसकी एक-दो-तीन-चार-दश-असंख्यात समय पहले भी थी, वर्तमानमें है और भविष्यमें भी रहेगी। किसी भी कालमें इसके असंख्यात प्रदेशत्व, चेतनत्व, अरूपित्व आदि स्वभाव न नष्ट होंगे और न कम होंगे। इस प्रकार 'समता' लक्षण जिसमें पाया जाय वह जीव या आत्मा है।

पशु-पक्षी-मनुष्य आदिके देह तथा वृक्षादिमें जो कुछ रमणीयता दिखाई पड़ती है या जिसके द्वारा इनमें स्फूर्ति आती है—वे सुन्दर जान पड़ते हैं—वह 'रमणीयता' जीवका ही लक्षण है। इसके बिना सारा संसार शून्यके जैसा भासमान होने लगता है। यह 'रम्यता' जिसमें हो या जिसमें यह लक्षण-रूपसे घट जाय वह 'जीव' है।

यह कभी संभव नहीं कि अपने आत्माकी सहायताके विना कोई किसी पदार्थको जान सके। जाननेके लिए पहले अपना आत्मा होना ही चाहिए। इसके सिवा जब किसी पदार्थका उदासीन भावसे ग्रहण या त्याग किया जाता है तब उस त्याग-रूप ज्ञानके लिए भी स्वयं आत्मा ही कारण है। दूसरे पदार्थका ग्रहण—थोड़ासा भी ज्ञान—तभी हो सकता है जब कि पहले आत्मा विद्यमान होता है। इस प्रकार सब कार्योंमें पहले जिसकी मौजूदगी रहती है वह 'जीव' पदार्थ है। उसे गौण करके आत्माके बिना किसी पदार्थका जानना संभव नहीं। जब आत्मा ही मुख्य रहता है तभी दूसरे पदार्थ जाने जा सकते हैं। इस प्रकारका 'ऊर्ध्व-धर्म' जिसमें है उसे श्रीतीर्थंकर प्रभुने जीव कहा है।

जीवका लक्षण है 'ज्ञायकपना'; और वह जड़की भिन्नताका कारण है। इस ज्ञायक गुणके विना जीव कभी किसी बातका अनुभव नहीं कर सकता। और यह ज्ञायकपना जीवको छोड़ कर अन्य किसी वस्तुमें रह भी नहीं सकता। इस प्रकार अत्यन्त अनुभवका कारण 'ज्ञायक' गुण जिसका लक्षण है उसे तीर्थंकर प्रभुने जीव कहा है।

शब्दादि पाँच प्रकारके विषय अथवा समाधि आदि योग-सम्बन्धी स्थितिमें जो सुख होता है उसका भिन्न भिन्न विचार करने पर अन्तमें सबमें सुखका कारण एक जीव ही जान पड़ता है; और इसी लिए तीर्थंकर प्रभुने 'सुखाभास' जीवका एक लक्षण कहा है। व्यवहार-नयसे यह लक्षण निद्राके समय प्रकट जान पड़ता है। निद्राके समय किसी पदार्थका भी सम्बन्ध नहीं रहता, तो भी यह जो ज्ञान होता है कि 'मैं सुखी हूँ' वह

जीवहीको होता है; क्योंकि वहाँ दूसरा कोई पदार्थ नहीं है और सुखका भास होना अत्यन्त स्पष्ट है। यह 'सुखाभास' नामका लक्षण जीवको छोड़ कर और कहीं नहीं रहता।

जिसमें इस प्रकारका ज्ञान–स्व-संवेदन ज्ञान–अनुभव-ज्ञान–होता हो कि यह सोंधा है, यह मीठा है, यह खट्टा है, यह खारा है, मैं इस स्थितिमें हूँ, मुझे जाड़ा लगता है, गरमी पड़ती है, मैं दुखी हूँ, दुःखका अनुभव करता हूँ वह जीव है। अथवा जिसके ये लक्षण हों वह जीव है। इस प्रकार तीर्थंकरादिकोंका अनुभव है।

आत्मा स्पष्ट प्रकाशमान है। इसके प्रकाशके विना अनन्त तेजस्वी दीपक, मणि, चंद्रमा और सूर्यादिक भी अपना प्रकाश नहीं कर सकते अर्थात् ये सब आत्म-प्रकाशकी सहायताके विना न तो अपना स्वयं ज्ञान करा सकते हैं और न कोई इन्हें जान ही पाता है। जिस पदार्थमें रहनेवाले चैतन्यकी सहायतासे उक्त पदार्थ जाने जाते हैं–वे प्रकाशित होते हैं–स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं–वह पदार्थ कोई हो, वही 'जीव' है। अर्थात् वह जो स्पष्ट, अचल और निराबाध प्रकाशमान चेतना है वह जीवकी है और जीवके प्रति स्थिर उपयोग लगा कर देखनेसे स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

ऊपर जो लक्षण कहे गये हैं उन पर बार बार विचार करनेसे जीव निराबाध जाना जाता है। इन लक्षणोंको जान कर ही तीर्थंकरादिकने जीवको जाना है और इसी लिए उन्होंने जीवके जाननेके ये लक्षण कहे हैं।

आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप ।
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप ॥ ५८ ॥

आत्मानं शङ्कते आत्मा स्वयमज्ञानतो ध्रुवम् ।
यः शङ्कते स वै आत्मा स्वेनाऽहो! स्वीयशङ्कनम् ५८

अर्थात्—आत्मा आत्माके ही सम्बन्धमें जो शंका करता है आश्चर्य है कि वह नहीं जानता कि यह शंका करनेवाला ही स्वयं आत्मा है।

शिष्यकी शंका ।

शिष्य कहता है कि 'आत्मा नित्य नहीं' है—

आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार ।
संभव तेनो थाय छे, अंतर कर्यें विचार ॥ ५९ ॥

शिष्ये भगवता प्रोक्ता आत्माऽस्तित्वस्य युक्तयः ।
ततः संभवनं तस्य ज्ञायतेऽन्तर्विचारणात् ॥ ५९ ॥

अर्थात्—आत्माके अस्तित्वके सम्बन्धमें आपने जो जो बातें समझाई उन पर हृदयमें विचार करनेसे यह तो संभव होता है कि आत्मा है;—

बीजी शंका थाय त्यां, आत्मा नहीं अविनाश ।
देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश ॥ ६० ॥

तथाऽपि तत्र शङ्काऽऽत्मा नश्वरः, नाऽविनश्वरः ।
देहसंयोगजन्माऽस्ति देहनाशात् तु नाशभाक् ॥६०॥

अर्थात्—परन्तु साथ ही यह शंका होती है कि आत्माके होने पर भी वह अविनाशी–नित्य–नहीं है। वह तीनों कालमें रहनेवाली वस्तु नहीं है; किन्तु शरीरके संयोगसे उत्पन्न होता है और शरीरके नाशके साथ ही नष्ट हो जाता है।

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय।
ए अनुभवथी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय ६१

अथवा क्षणिकं वस्तु परिणामि प्रतिक्षणम्।
तदनुभवगम्यत्वान्नाऽऽत्मा नित्योऽनुभूयते ॥ ६१ ॥

अर्थात्—अथवा वस्तुयें जो क्षण क्षणमें बदलती हुई देखी जाती हैं इससे सिद्ध है कि सब वस्तुयें क्षणिक हैं और इसी अनुभवसे यह बात जानी जाती है कि आत्मा नहीं है।

सद्गुरुका उत्तर।

गुरु कहते हैं कि 'आत्मा नित्य है'; और वह इस तरह सिद्ध है—

देह मात्र संयोग छे, वळी जड, रूपी, दृश्य।
चेतननां उत्पत्ति लय, कोना अनुभव वश्य? ॥६२

देहमात्रं तु संयोगि दृश्यं रूपि जडं घनम्।
जीवोत्पत्ति-लयावत्र नीतौ केनाऽनुभूतिताम्?॥६२॥

अर्थात्—देह मात्र परमाणुओंके संयोगसे बना है और संयोग-सम्बन्धसे आत्माके साथ इसका संयोग हो रहा है। देह जड़ है, रूपी है और दृश्य रूप है, अर्थात् किसी द्रष्टाके जाननेका विषय है—यह स्वयं अपने आपको भी नहीं जान सकता तब चैतन्यकी उत्पत्ति और नाशको तो जान ही कैसे सकता है। देहके एक एक परमाणुका विचार करनेसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि देह जड़ ही है। तब जड़ देहसे चैतन्यका उत्पन्न होना कभी संभव नहीं। उसी प्रकार नष्ट होकर उसका देहके साथ मिल जाना भी संभव नहीं। और देह रूपी–स्थूल–है; और चैतन्य अरूपी, सूक्ष्म और द्रष्टा है तब देहसे चैतन्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है; तथा नाश होकर उसके साथ मिल भी कैसे सकता है? अच्छा यह बतलाओ कि यदि देहसे चैतन्य उत्पन्न होता है और देहके नाशके साथ ही चैतन्यका नाश हो जाता है, तो इस बातका अनुभव कौन करता है अर्थात् इस प्रकारका ज्ञान किसको होता है? क्योंकि ज्ञाता चैतन्यकी उत्पत्ति देहसे पहले तो होती नहीं और नाश उसके पहले हो जाता है तब यह अनुभव किसे होता है?

समर्थन—शिष्यने जो यह शंका की कि जीवका स्वरूप अविनाशी–नित्य त्रिकाल स्थिर रहनेवाला–नहीं है वह तो देहके संयोगसे अर्थात् देहके साथ साथ जन्म धारण करता है और देहके नाशके साथ ही नष्ट हो जाता है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि देह और जीवका मात्र संयोग-सम्बन्ध है। इससे देह जीवके मूल-स्वरूपके उत्पन्न होनेका कारण नहीं हो सकता; किन्तु देह ही संयोग-सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाला पदार्थ है। इसके सिवा देह जड़ है—किसीको जान नहीं सकता। और जब वह स्वयं

अपनेको ही नहीं जानता तव दूसरेको तो जान ही कैसे सकता है। और देह रूपी है, स्थूल आदि पर्यायें उसके स्वभाव हैं और चक्षु-इन्द्रियका विषय है और चैतन्य अरूपी, सूक्ष्म तथा चक्षु-इन्द्रियका अविषय है। तव जड़ देह चैतन्यके उत्पत्ति-विनाशको कैसे जान सकता है? अर्थात् जव वह स्वयं अपनेको नहीं जानता तव यह कैसे जान सकता है कि 'यह चैतन्य मुझसे उत्पन्न हुआ है'? कारण जाननेवाला पदार्थ ही जान सकता है और देह तो जाननेवाला नहीं है। तव चैतन्यकी उत्पत्ति और नाश किसके अधीन कहे जायँ? देहके अधीन तो कहे नहीं जा सकते, कारण कि वह प्रत्यक्ष जड़ है और उसके इस जड़त्वको जाननेवाला इससे भिन्न दूसरा पदार्थ भी समझमें आता है। कदाचित् यह कहा जाय कि चैतन्य अपनी उत्पत्ति और नाशको स्वयं ही जानता है, तो यह कहना ही वाधित ठहरता है। क्योंकि इस कहनेसे तो यही सिद्ध होगा कि पर्यायान्तरसे चैतन्यका अस्तित्व ही स्वीकार कर लिया गया। कारण जो चैतन्य अपनी उत्पत्ति और नाशको जान सकता है तव उसका होना तो स्वयं सिद्ध हो गया। इस लिए यह कहना अपने ही सिद्धान्तका विरोधी है; और कथन मात्र है। जिस प्रकार कोई यह कहे कि 'मेरे मुँहमें जवान नहीं है,' उसी प्रकार यह कहना है कि चैतन्य अपनी उत्पत्ति और नाशको जानता है इस लिए वह नित्य नहीं है। इस सिद्धान्तमें कितनी यथार्थता है इस पर तुम ही विचार करो।

जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न, लयनुं ज्ञान।
ते तेथी जूदाविना, थाय न केमें भान ॥ ६३ ॥

उत्पत्ति-लयबोधौ तु यस्यानुभववर्तिनौ ।
स ततो भिन्न एव स्यान्नान्यथा बोधनं तयोः ॥६३॥

अर्थात्—जिस देहकी उत्पत्ति और नाशका ज्ञान चैतन्यके अनुभवमें आता है वह जड़ देह चैतन्यसे भिन्न है। ऐसा हुए विना उसका ज्ञान होना संभव नहीं। अर्थात् नाश और उत्पत्ति जड़ देहकी होती है, चैतन्यकी उत्पत्ति और नाश नहीं होता।

समर्थन—जिसके अनुभवमें देहकी उत्पत्ति और नाशका ज्ञान होता है वह यदि देहसे भिन्न न हो तो देहकी उत्पत्ति और नाशका ज्ञान किसी प्रकार नहीं हो सकता; अथवा जिस देहकी उत्पत्ति और नाशको जो जानता है उस जाननेवालेको उत्पत्ति और नाश-युक्त पदार्थसे भिन्न होना ही चाहिए। क्योंकि वह तो उत्पत्ति तथा नाश-युक्त नहीं है; किन्तु ऐसे पदार्थोंका जाननेवाला है। इस लिए दोनोंकी एकता नहीं हो सकती।

जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभवदृश्य ।
उपजे नहीं संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥६४॥
दृश्यन्ते ये तु संयोगा ज्ञायन्ते ते सदात्मना ।
नाऽत्मा संयोगजन्योऽतः किन्त्वात्मा शाश्वतः स्फुटम्

अर्थात्—जो जो संयोग देखे जाते हैं वे सब अनुभव-स्वरूप आत्माके दृश्य हैं—आत्मा उनको जानता है। और संयोगके स्वरूपका विचार करनेसे ऐसा कोई संयोग दिखाई नहीं पड़ता कि जिससे आत्मा उत्पन्न हो सकता हो। इस लिए यह निश्चित है कि आत्मा संयोगसे उत्पन्न हुआ नहीं है—असंयोगी है। और वह स्वाभाविक पदार्थ है, इस लिए प्रत्यक्ष नित्य जान पड़ता है।

जडथी चेतन उपजे, चेतनथी जड थाय।
एवो अनुभव कोइने, क्यारे कदी न थाय॥६५॥

जडादुत्पद्यते जीवो जीवादुत्पद्यते जडम् ।
एषाऽनुभूतिः कस्यापि कदापि क्वाऽपि नैव रे!॥६५

अर्थात्—ऐसा अनुभव कभी किसीको नहीं हुआ कि चेतनसे जड़ और जड़से चैतन्य उत्पन्न होता है।

समर्थन—संसारमें जितने देहादिक संयोग देखे जाते हैं उन सबका देखने-जाननेवाला आत्मा है। ऐसे अनेक संयोगोंको जब तुम विचार करके देखोगे तो तुम्हें ऐसा कोई संयोग दिखाई न पड़ेगा कि जिससे आत्मा उत्पन्न हुआ हो। एक यही बात तुम्हें सब संयोगोंसे भिन्न–असंयोगी–संयोगसे उत्पन्न न हुआ–सिद्ध करती है कि तुम्हें कोई संयोग नहीं जानते और तुम सब संयोगोंको जानते हो। और यही अनुभवमें भी आता है। इस लिए ऐसे कोई संयोग नहीं, जिनसे आत्मा उत्पन्न हो सके और जो संयोग आत्माकी उत्पत्तिके लिए अनुभव किये जा सकें। जिन जिन संयोगोंकी कल्पना की जाती है उन सबसे वह अनुभव भिन्न किन्तु उनका जाननेवाला होता है। ऐसे अनुभव-स्वरूप आत्माको तुमने नित्य और अस्पर्श्य–संयोगी पदार्थके भाव-स्पर्श-रहित–स्वरूपमें प्राप्त नहीं कर पाया है। जो पदार्थ किसी संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो अर्थात् अपने स्वभावहीसे सिद्ध हो उसका नाश होकर किसी पदार्थमें मिल जाना संभव नहीं और जो नाश होकर दूसरे पदार्थमें उसका मिल जाना संभव होता तो पहले उस पदार्थसे उसकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए थी। अन्यथा

उसकी नाशरूप एकता हो नहीं सकती । इस लिए आत्माको अजन्मा, अविनाशी समझ कर यह भी विश्वास करना चाहिए कि आत्मा 'नित्य' है।

कोइ संयोगोथी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय ।
नाश न तेनो कोइमां, तेथी 'नित्य' सदाय ॥ ६६ ॥

यस्योत्पत्तिस्तु केभ्योऽपि संयोगेभ्यो न जायते ।
न नाशः संभवेत् तस्य जीवोऽतो ध्रुवति ध्रुवम् ६६

अर्थात्—जिसकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे नहीं होती उसका नाश भी किसी अन्य पदार्थमें नहीं होता। इस लिए आत्मा त्रिकाल नित्य है।

क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय ।
पूर्वजन्मसंस्कार ते, जीवनित्यता त्यांय ॥ ६७ ॥

क्रोधादितारतम्यं यत् सर्प-सिंहादिजन्तुषु ।
पूर्वजन्मजसंस्कारात् तत् ततो जीवनित्यता ॥६७॥

अर्थात्—सर्प आदि प्राणियोंमें क्रोधादि प्रकृतियोंकी विशेषता जन्मसे ही देखी जाती है। वर्तमान देहने उनका कोई अभ्यास नहीं किया है। वे प्रकृतियाँ जन्मसे ही उनके साथ रहती हैं। यह पूर्व जन्मका संस्कार है; और यह पूर्व जन्म ही जीवकी नित्यता सिद्ध करता है।

समर्थन—सर्पमें जन्मसे क्रोधकी विशेषता देखी जाती है, कबूतर जन्मसे अहिंसक होता है, और खटमल आदि जीवोंको पकड़ने पर दुःख और भयके मारे वे भागनेका प्रयत्न करते हैं; इसी प्रकार जन्मसे किसीमें प्रेमकी, किसीमें समता-भावकी, किसीमें निर्भयताकी, किसीमें गंभीरताकी,

किसीमें भय-संज्ञाकी, किसीमें कामादिकी लालसा न होनेकी, और किसीमें आहारादिकी अधिक लुब्धता–की विशेषता देखी जाती है। इस प्रकार क्रोधादि संज्ञाओंकी न्यूनाधिकता तथा अन्य अन्य प्रकृतियोंकी विशेषता जन्मसे ही जीवोंके साथ देखी जाती है। इस विशेषताका कारण पूर्वका संस्कार ही संभव है। कदाचित् यह कहा जाय कि गर्भमें वीर्यके गुणके सम्वन्धसे भिन्न भिन्न प्रकारके गुण उत्पन्न हो जाते हैं, इसमें पूर्व जन्मका कोई सम्वन्ध नहीं। यह कहना ठीक नहीं हैं। कारण यदि यह निश्चित बात होती तो फिर यह विशेषता कभी दिखाई नहीं पड़ती कि मा-वाप तो अत्यन्त कामी और उनके लड़के वालकपनसे ही परम वीतरागी; तथा मा-वाप तो अत्यन्त क्रोधी और उनकी सन्तान वड़ी ही क्षमाशाली। दूसरे वीर्य तो चैतन्य नहीं होता फिर इन गुणोंकी उसमें संभावना ही कैसे की जा सकती है। वीर्य-में तो जव चैतन्य संचार करता है तव वह देह धारण करता है। इस लिए वीर्यके आश्रित क्रोधादिक भाव नहीं माने जा सकते। चैतन्यके विना ऐसे भाव कहीं अनुभवमें नहीं आ सकते। ये भाव केवल चैतन्यके आश्रित हैं अर्थात् वीर्यके गुण नहीं हैं। और इसी लिए वीर्यकी न्यूना-धिकतासे क्रोधादिककी न्यूनाधिकताको मुख्यता नहीं दी जा सकती। चैतन्यके न्यूनाधिक प्रयोगसे (प्रेरणा) क्रोधादिककी न्यूनाधिकता होती है। इस लिए न्यूनाधिकता गर्भ-गत वीर्यका गुण नहीं, किन्तु चैतन्यका आश्रित गुण है। और यह न्यूनाधिकता चैतन्यके पूर्वके अभ्याससे ही होती है; क्योंकि कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। चैतन्यका पूर्व-जन्मका प्रयोग वैसा होता है तभी उसके वैसे संस्कार होते हैं; और

जिससे ये क्रोधादि देहादिके पहलेके संस्कार जान पड़ते हैं। ये संस्कार पूर्व-जन्मको सिद्ध करते हैं और पूर्व-जन्मकी सिद्धिसे ही आत्माकी नित्यता सहज सिद्ध हो जाती है।

आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय ।
बाळादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय ॥ ६८ ॥

आत्माऽस्ति द्रव्यतो नित्यः पर्यायैः परिणामभाक् ।
बालादिवयसो ज्ञानं यस्मादेकस्य जायते ॥ ६८ ॥

अर्थात्—जिस प्रकार समुद्रमें कोई परिवर्तन नहीं होता; किन्तु जो लहरें आती-जाती रहती हैं–उनमें परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार द्रव्यकी अपेक्षा आत्मा नित्य है–उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता; किन्तु समय समय जो उसके ज्ञानका परिणमन होता रहता है उससे उसका पर्याय-परिवर्तन होता रहता है। बालक-युवा-वृद्ध ये तीन अवस्थायें आत्माकी विभाव पर्यायें हैं। बालकपनमें आत्मा बालक समझा जाता है, जब वह बालकपनको छोड़ युवावस्था धारण करता है, तब युवा कहा जाता है; और इसी प्रकार जब युवावस्था छोड़ कर वृद्धावस्था धारण करता है तब वृद्ध कहा जाता है। इन तीनों अवस्थाओंमें जो भेद हुआ वह पर्याय-भेद है, इससे आत्मामें भेद हुआ न समझना चाहिए। मतलब यह कि परिवर्तन अवस्थाका हुआ है आत्माका नहीं। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंको जानता है और तीनों अवस्थाओंकी उसे ही स्मृति है; और यह बात तभी बन सकती है जब कि आत्मा तीनों अवस्थाओंमें एक हो। और जो वह क्षण क्षणमें बदलता रहता हो तब तो ऐसा अनुभव हो ही नहीं सकता।

अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणी वदनार।
वदनारो ते क्षणिक नहीं, कर अनुभव निर्धार ६९

क्षणिकं वस्त्विति ज्ञात्वा यः क्षणिकं वदेदहो !।
स वक्ता क्षणिको नाऽस्ति तदनुभवनिश्चितम् ॥६९॥

अर्थात्—जो यह जानता है कि अमुक पदार्थ क्षणिक है और इसी प्रकार कहता है वह जानने और कहनेवाला क्षणिक नहीं हो सकता। कारण पहले क्षणमें हुआ अनुभव ही दूसरे क्षणमें कहा जा सकता है; और यदि दूसरे क्षणमें वह स्वयं ही न हो तो उसे वह अनुभव कैसे बना रह सकता है। इस लिए इस अनुभवसे भी आत्माकी नित्यता निश्चय करना चाहिए।

क्यारे कोइ वस्तुनो, केवळ होय न नाश।
चेतन पामे नाश तो, केमां भळे तपास ॥ ७० ॥

कदाऽपि कस्यचिन्नाशो वस्तुनो नैव केवलम्।
चेतना नश्यति चेत् तु किंरूपः स्याद् गवेषय ? ७०

अर्थात्—वस्तुका सर्वथा नाश किसी भी कालमें नहीं होता, मात्र अवस्थान्तर होता है। इसी प्रकार चैतन्यका भी सर्वथा नाश नहीं हो सकता। और अवस्थान्तर रूप नाश होता हो तो इस बातका शोध करो कि वह किसमें मिल जाता है अथवा किस प्रकारका उसका अवस्थान्तर होता है। घड़के फूट जाने पर लोग कहते हैं कि घड़ा नष्ट हो गया; परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो घट-पर्याय नष्ट हुई है, उसके मिट्टीपनेका नाश

नहीं हुआ है। मिट्टी धूलके रूपमें परिणत हो जाय तो भी वह परमाणु-रूपमें बनी रहेगी। उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता। और न उसका एक परमाणु ही कम हो सकता है। अनुभवके साथ विचार करने पर यह तो जान पड़ेगा कि वस्तुका अवस्थान्तर तो हो सकता है, परन्तु यह कभी नहीं देख पड़ेगा कि उसका सर्वथा नाश हो जाता हो। मतलब यह कि तुम चैतन्यका नाश कह कर यह नहीं कह सकते कि उसका सर्वथा नाश हो जाता है। हाँ, अवस्थान्तर-रूप नाश कह सकते हो।

अच्छा, अब यह देखो कि जैसे घड़ा फूट कर वह क्रम क्रमसे परमाणुओंके रूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही चैतन्यका अवस्थान्तर-रूप नाश तुम्हें कहना हो तो उसे किस स्थितिमें कहोगे, अथवा घड़के परमाणु जैसे अन्य परमाणुओंमें मिल जाते हैं वैसे ही चैतन्य किस वस्तुमें मिलने योग्य है। मतलब यह कि इस प्रकारका अनुभव करके तुम देखोगे तो तुम्हें जान पड़ेगा कि आत्मा न तो किसीमें मिलने योग्य है और न पर-वस्तु-स्वरूपमें अवस्थान्तर होने योग्य है।

शिष्यकी शंका।

शिष्य कहता है कि 'आत्मा कर्मोंका कर्त्ता नहीं है'; और वह इस तरह सिद्ध किया जा सकता है—

कर्त्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्त्ता कर्म।
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म॥७१

आत्मा नो कर्मणः कर्ता कर्मकर्ताऽस्ति कर्म वै ।
वा सहजः स्वभावः स्यात् कर्मणो जीवधर्मता ॥ ७१

अर्थात्—जीव कर्मोंका कर्त्ता नहीं है, कर्म अपने आप ही अपने कर्त्ता हैं अथवा वे अनायास ही होते रहते हैं। इस पर तुम कहो कि ऐसा नहीं है; किन्तु जीव ही कर्मोंका कर्त्ता है। तब तो फिर कर्म करना जीवका धर्म—स्वभाव—ही है और जब वह जीवका स्वभाव ठहर गया तब कभी जीवसे अलग भी नहीं हो सकता।

आत्मा सदा असंग ने, करे प्रकृति बंध ।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबंध ॥ ७२ ॥

स्यादसंगः सदा जीवो बन्धो वा प्राकृतो भवेत् ।
वेश्वरप्रेरणा तत्र ततो जीवो न बन्धकः ॥ ७२ ॥

अर्थात्—अथवा ऐसा न कहो तो यों कहो कि आत्मा सदा निःसंग है और सत्व आदि गुण-युक्त प्रकृतियाँ कर्मोंका बंध करती हैं। इस बातको भी स्वीकार न करो तो यह कहो कि जीवको कर्म करनेके लिए ईश्वर प्रेरणा करता है और इस लिए कर्म करना ईश्वरकी इच्छा पर निर्भर रहनेसे जीव फिर कर्म-बन्धसे निर्मुक्त ही है।

माटे मोक्ष-उपायनो, कोइ न हेतु जणाय ।
कर्मतणुं कर्तापणुं, कां नहीं, कां नहीं जाय ? ॥७३॥

ततः केनाऽपि हेतुना मोक्षोपायो न गम्यते ।
जीवे कर्मविधातृत्वं नास्त्यस्ति चेन्न नश्यताम् ॥ ७३

अर्थात्—इन बातोंसे जीव किसी प्रकार कर्मोंका कर्त्ता नहीं हो सकता; और न तब मोक्ष-प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना ही सकारणक जान पड़ता है; क्योंकि जीवमें कर्म-कर्तृत्त्व नहीं बनता । और जो मान लिया जाय तो फिर वह उसका स्वभाव ठहर जाता है और स्वभाव मान लेनेसे जीवसे फिर कभी छूट न सकेगा ।

सुगुरुका उत्तर ।

सुगुरु इस बातको बतलाते हैं कि 'आत्मा कर्मोंका कर्त्ता' किस प्रकार है—

होय न चेनतप्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ? ।
जडस्वभाव नहीं प्रेरणा, जुओ विचारी धर्म ॥७४

चेतनप्रेरणा न स्यादादद्यात् कर्म कः खलु ? ।
प्रेरणा जडजा नाऽस्ति वस्तुधर्मो विचार्यताम्॥७४॥

अर्थात्—चैतन्य आत्माकी प्रेरणा-रूप प्रवृत्ति न हो तो कर्मोंको ग्रहण कौन करे; क्योंकि जड़का स्वभाव प्रेरणा करना नहीं है । यह बात जड़ और चैतन्यके धर्मोंका विचार करने पर स्पष्ट ध्यानमें आ सकती है ।

समर्थन—जो चैतन्यकी प्रेरणा न हो तो कर्मोंको ग्रहण करेगा कौन ? क्योंकि प्रेरणा करके ग्रहण कराने रूप स्वभाव जड़ वस्तुका है

ही नहीं। और यदि ऐसा हो तो फिर घट-पट आदि वस्तुओंमें भी क्रोधादि भाव तथा कर्मोंका ग्रहण करना होना चाहिए। परन्तु ऐसा अनुभव तो आज तक किसीको भी नहीं हुआ। इससे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि चैतन्य जीव ही कर्मोंको ग्रहण करता है; और इसी लिए उसे कर्मोंका कर्त्ता कहा जाता है अर्थात् इस प्रकार जीव कर्मोंका कर्त्ता सिद्ध होता है। तुमने जो यह पूछा कि कर्मोंका कर्त्ता कर्मको कहना चाहिए या नहीं सो इसका भी समाधान इस उत्तरसे हो जायगा कि जड़ कर्मोंमें प्रेरणा-रूप धर्मके न होनेसे उनमें चैतन्यकी भाँति कर्मोंके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य नहीं है। और कर्मोंका कर्त्तापना जीवमें इस लिए है कि उसमें प्रेरणा-शक्ति है।

जो चेतन करतुं नथी, थतां नथी तो कर्म।
तेथी सहज स्वभाव नहीं, तेम ज नहीं जीवधर्म ७५

यदि जीवक्रिया न स्यात् संग्रहो नैव कर्मणः।
अतो न सहजो भावो नैव वा जीवधर्मता॥ ७५॥

अर्थात्—आत्मा जो कर्म नहीं करता तो वे होते नहीं, इस लिए यह कहना ठीक नहीं है कि कर्म अनायास—स्वभाव—से ही होते रहते हैं। और न यह कहना ही ठीक है कि आत्मा कर्म-कर्त्ता है इस लिए वह उसका स्वभाव है; क्योंकि स्वभावका कभी नाश नहीं होता। और जो यह कहा गया कि आत्मा कर्म न करता तो कर्म होते नहीं, इससे यह भी सिद्ध होता है कि कर्म-भाव आत्मासे दूर भी हो सकते हैं, इस लिए कि वह उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है।

समर्थन—अब, तुमने जो यह कहा कि कर्म अनायास ही होते रहते हैं, इस पर विचार करते हैं कि अनायास कहनेसे तुम्हारा मतलब क्या है ? क्या आत्माके विना विचार किये ही हो गये ? या आत्माका कुछ कर्तृत्व न रहने पर भी जो हो गये ? अथवा ईश्वर वगैरह द्वारा कर्म चिपका देने पर अपने आप हो गये ? या प्रकृतिके बलात्कार से हो गये ? इस प्रकार मुख्य चार विकल्पोंसे अनायास-कर्तृत्त्वका विचार करना आवश्यक है। इनमें पहला विकल्प है 'आत्माके विना विचारे हो गये।' जो ऐसा हो तो कर्मका ग्रहण करना बन ही नहीं सकता, और जहाँ कर्मका ग्रहण करना नहीं वहाँ कर्मका अस्तित्त्व भी संभव नहीं। और यह बात तो प्रकट अनुभवमें आती है कि जीव प्रत्यक्ष चिन्तन करता है, ग्रहण करता है और छोड़ता है। आत्मा यदि क्रोधादिक भावोंमें किसी प्रकार भी प्रवृत्त न होनेको सयत्न रहे तो वे उसमें उत्पन्न हो ही नहीं सकते। इससे यह जाना जाता है कि आत्माके विचार किये विना अथवा आत्माने जिन्हें न किया हो ऐसे कर्मोंका ग्रहण आत्माके द्वारा हो ही नहीं सकता। मतलब यह कि इन दोनों रीतियोंसे कर्मोंका अनायास ग्रहण सिद्ध नहीं हो सकता।

केवळ होत असंग जो, भासत तने न केम ?।
असंग छे परमार्थथी, पण निजभाने तेम ॥ ७६ ॥

यदि स्यात् केवलोऽसङ्गः कथं भासेत न त्वयि ?।
तत्त्वतोऽसंग एवाऽस्ति किंतु तन्निजबोधने ॥ ७६ ॥

अर्थात्—आत्मा जो सर्वथा निस्संग होता—कभी कर्म-कर्तृत्व उसमें न होता—तो तुम्हें आत्मा पहले क्यों नहीं भास गया ? परमार्थ

दृष्टिसे हाँ सचमुच ही आत्मा निस्संग है, परन्तु यह बात तो तब हो सकती है जब कि उसे अपने स्वरूपका भान हो जाय।

कर्ता ईश्वर को नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव।
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोषप्रभाव ॥ ७७ ॥

नेश्वरः कोऽपि कर्ताऽस्ति स वै शुद्धस्वभावभाक्।
यदि वा प्रेरके तत्र मते दोषप्रसङ्गता ॥ ७७ ॥

अर्थात्—जगत्का या जीवोंका कर्त्ता कोई ईश्वर भी नहीं है; क्योंकि ईश्वर वह है जिसका आत्म-स्वभाव शुद्ध हो गया है। और यदि उसे प्रेरक-रूपसे कर्मोंका कर्त्ता कहो तो उसके शुद्ध स्वभावमें दोष आवेगा। इस कारण जीवके कर्म करनेमें ईश्वरकी प्रेरणा भी नहीं मानी जा सकती।

समर्थन—तीसरे कहा गया कि ईश्वर वगैरह कोई जीवके कर्म चिपका देते हैं, इस लिए वे अनायास होते हैं, सो यह भी कहना ठीक नहीं है। यद्यपि ऐसी दशामें पहले ईश्वरके स्वरूपका निश्चय करना उचित है और इस प्रसंग पर तो और भी विशेष उचित है तथापि यहाँ किसी ईश्वर या विष्णु आदिको किसी तरह कर्त्ता स्वीकार कर उस पर विचार करते हैं। जो ईश्वर आदि कोई कर्मोंके चिपका देनेवाला हो तो फिर जीव पदार्थ कोई नहीं ठहरेगा; क्योंकि प्रेरणा आदि धर्म—स्वभाव—के धारक जीवका फिर अस्तित्व ही समझमें नहीं आता। ये धर्म तो फिर ईश्वर-कृत ठहरते हैं—ईश्वरके गुण हो जाते हैं। तब फिर जीवका शेष स्वरूप रह ही क्या जाता है कि जिससे उसे जीव या आत्मा कहा जाय। इस लिए यही कहना ठीक है कि कर्म ईश्वर-प्रेरित नहीं हैं, किन्तु स्वयं जीवके ही

किये हुए हैं । इसी प्रकार चौथा विकल्प है 'प्रकृतिके वलात्कार से कर्म अनायास होते हैं' सो यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जीवके प्रकृति आदि जड़ हैं, उसे आत्मा ग्रहण न करे तो वह किस तरह पीछे पड़ सकनेमें समर्थ हो सकती है ?

यह कहो कि द्रव्य-कर्मंहीका नाम तो प्रकृति है, इस लिए कर्मोंका कर्त्ता कर्महीको कहना चाहिए, सो इसका निषेध पहले किया ही जा चुका है । यह कहो कि प्रकृति नहीं तो मन आदि जो कर्मोंको ग्रहण करते हैं उससे आत्मामें कर्त्तापना सिद्ध होता है, सो यह भी सर्वथा सिद्ध नहीं हो सकता । कारण ये मन आदि चैतन्यकी प्रेरणाके विना मन रूपसे ठहर ही नहीं सकते । आत्मा जो मनन करनेके लिए जिन कर्म-वर्गणाओंका अवलम्बन लेता है वे मन है । जो आत्मा मनन न करे तो मनन करनेका धर्म—स्वभाव—कोई वर्गणाओंमें थोड़े ही है, वे तो सर्वथा जड़ हैं । आत्मा चैतन्यकी प्रेरणासे उन वर्गणाओंका अवलंबन—सहारा—लेकर ही कर्म ग्रहण करता है, इसी लिए उसमें कर्त्तापनेका आरोप किया जाता है; परन्तु प्रधानतासे चैतन्य ही कर्मोंका कर्त्ता है । वेदान्त-दृष्टिसे तुम यदि इस पर विचार करोगे तो तुम्हें यह कथन एक भ्रान्त पुरुषके कथनके जैसा जान पड़ेगा । परन्तु नीचे जिस प्रकार यह कथन किया जाता है उसे समझनेसे तुम्हें उक्त कथनकी यथार्थता जान पड़ेगी और उसमें किसी प्रकारका फिर भ्रम न रह जायगा । जो कोई प्रकार आत्मा कर्मोंका कर्त्ता न हो तो वह भोक्ता भी नहीं वन सकता ! और यदि ऐसा ही हो तो फिर उसे किसी प्रकारका दुःख न होना चाहिए । और जब दुःखोंका होना संभव नहीं तब फिर वेदान्तादि शास्त्रोंने दुःखोंसे छुटकारा पानेका

उपदेश किस लिए किया? वेदान्त शास्त्र कहते हैं कि जब तक आत्मज्ञान न हो तब तक दुःखोंका आत्यन्तिक क्षय नहीं हो सकता, सो यदि ऐसा न होता तो उन्हें दुःखोंके क्षयका उपदेश किस लिए करना चाहिए? और इसी प्रकार कर्मोंका कर्तृत्व आत्मामें न हो तो भोक्तृत्व भी कहाँसे होगा? इस प्रकार विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि आत्मा कर्मोंका कर्त्ता है। यहाँ पर यह प्रश्न और हो सकता है और तुमने भी इस प्रश्नको किया है। वह यह कि जो आत्माको कर्मोंका कर्त्ता माना जाय तो वह उसका धर्म—स्वभाव—ठहरता है; और जो जिसका धर्म होता है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता अर्थात् वह उससे सर्वथा भिन्न हो नहीं सकता। जिस प्रकार कि अग्निकी उष्णता या प्रकाश अग्निसे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार जो कर्म-कर्तृत्व आत्माका धर्म हो तो वह फिर नाश नहीं हो सकता। परन्तु 'यह कहना तब ठीक हो सकता है जब कि प्रमाणके एकांशको ही स्वीकार करके इस विषयका विचार किया जाये। परन्तु जो बुद्धिमान् होते हैं वे ऐसा नहीं करते कि प्रमाणके एकांश स्वीकार करके उसके दूसरे अंशको छोड़ दें।

और इस प्रश्नका उत्तर, कि जीव कर्मोंका कर्त्ता नहीं है, अथवा हो तो वह प्रतीत नहीं होता, जीवको कर्मोंका कर्त्ता बतलाते हुए अच्छी तरह दे दिया गया है। तथा यह जो कहा गया कि जीवको कर्मोंका कर्त्ता माननेसे वह कर्तृत्व-धर्म फिर उससे दूर नहीं हो सकेगा, सो यह कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं; क्योंकि जो जो वस्तुयें ग्रहण की जाती हैं वे छोड़ी भी जा सकती हैं। ग्रहण की गई वस्तुकी ग्रहण करनेवालेके साथ एकता नहीं हो सकती। इस लिए जीव जिन द्रव्य-कर्मोंको ग्रहण करता

है वह उन्हें त्याग दे तो वे त्यागे जा सकते हैं । कर्म जीवके सहकारी हैं स्वाभाविक नहीं हैं । उन कर्मोंको मैंने तुम्हें अनादि भ्रम बतलाया है अर्थात्—जीवको कर्मोंका कर्त्ता अज्ञानके कारण कहा है। इस लिए भी वे जीवसे पृथक् हो सकते हैं । इस प्रकार उक्त दोनों बातें समझमें आती हैं । देखो, जो जो भ्रम होता है वह वह वस्तुकी उल्टी स्थिति पर विश्वास करानेवाला होता है जिस प्रकार कि मृग-तृष्णामें जल-बुद्धिका भ्रम होता है । कहनेका मतलब यह है कि अज्ञानताके कारण ही क्यों न हो, परन्तु आत्माको यदि कर्मोंका कर्त्ता न माना जाय तो फिर उपदेशादिका सुनना, विचार करना, समझना आदिका कोई मतलब नहीं रह जाता । अब यहाँसे आगे परमार्थ-दृष्टिसे जीवका जैसा कर्त्तापना है उसका वर्णन किया जाता है ।

चेतन जो निजभानमां, कर्ता आपस्वभाव ।
वर्ते नहीं निजभानमां, कर्ता कर्मप्रभाव ॥ ७८ ॥

यदाऽऽत्मा वर्तते सौवे स्वभावे तत्करस्तदा ।
यदात्मा वर्ततेऽसौवे स्वभावेऽतत्करस्तदा ॥ ७८ ॥

अर्थात्—आत्मा जब अपने चैतन्यादि शुद्ध स्वभावमें ही प्रवृत्त रहता है तब वह अपने उस स्वभावहीका कर्त्ता है—अपने स्वभावमें ही स्थित रहता है; और जब उसे शुद्ध चैतन्यादि स्वभावका भान नहीं रहता—उसमें वह स्थित नहीं होता तब कर्मोंका कर्त्ता है ।

समर्थन—अपने स्वरूपका भान रहने पर आत्मा अपने स्वभावका–चैतन्यादि स्वभावका–ही कर्त्ता है; अन्य किसी कर्मादिका कर्त्ता नहीं हैं ।

और जब वह अपने स्वरूपमें प्रवृत्त नहीं होता तब कर्म-भावका कर्त्ता होता है। वास्तवमें तो वेदान्तादिकमें जीवको अक्रिय कहा है और इसी प्रकार जिनागममें भी सिद्ध—जीव—शुद्धात्मा-को अक्रिय कहा है। तब हमने उसे जो शुद्धावस्थामें कर्त्ता होनेके कारण सक्रिय कहा, उसमें सन्देह हो सकता है। पर वह सन्देह इस तरह दूर किया जा सकता है कि शुद्धात्मा पर-योगका, पर-भावका और नाना विभावोंका उस अवस्थामें कर्त्ता नहीं इस कारण अक्रिय कहा जाता है। परन्तु अक्रियका अर्थ यदि यह किया जाय कि वह चैतन्यादि स्वभावका भी कर्त्ता नहीं है तब तो फिर उसका कुछ स्वरूप नहीं रहता। बात यह है कि शुद्धात्मामें योग-क्रिया नहीं होती इस लिए तो वह अक्रिय है; और स्वाभाविक चैतन्यादि स्वभाव-रूप क्रिया होती है इस लिए सक्रिय है। चैतन्यता आत्मामें स्वाभाविक होनेके कारण उसमें परिणमन होना एकात्मता ही है; और इस लिए परमार्थ-दृष्टिसे उसमें सक्रिय विशेषण भी नहीं घट सकता। निज-स्वभावमें परिणमन-रूप क्रियासे शुद्धात्मा अपने स्वभावका कर्त्ता कहा गया है। उसमें केवल शुद्ध स्वधर्म होनेसे उसका परिणमन एक आत्म-रूप ही होता है। इस लिए उसे 'अक्रिय' कहनेमें भी कोई दोष नहीं है। जिस विचार-दृष्टिसे आत्मामें सक्रियता और अक्रियता निरूपण की गई है उस विचारको परमार्थ-दृष्टिसे ग्रहण करके देखा जाय तो आत्माको 'सक्रिय' तथा 'अक्रिय' कहनेमें कोई दोष नहीं आ सकता।

शिष्यकी शंका ।

शिष्य कहता है कि 'जीव कर्मोंका भोक्ता नहीं है,' वह इस प्रकार—

जीव कर्मकर्त्ता कहो, पण भोक्ता नहीं सोय ।
शुं समजे जड कर्म के, फळपरिणामी होय ॥७९॥

स्तादात्मा कर्मणः कर्ता किन्तु भोक्ता न युज्यते ।
किं जानाति जडं कर्म येन तत् फलदं भवेत् ॥७९॥

अर्थात्—जीवको कर्मोंका कर्त्ता मान भी लिया जाय तो भी वह कर्मोंका भोक्ता नहीं हो सकता । क्योंकि जड़ कर्म इस बातको नहीं समझ सकते कि उनका जीवको फल देनेमें परिणमन हो सकता है–वे फल दे सकते हैं ।

फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय ।
एम कहे ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय ॥ ८० ॥

भवेदीश्वरः फलदस्तदाऽत्मा भोगभाग् भवेत् ।
अप्यैश्वर्यं न युज्येत ईश्वरे फलदे मते ॥ ८० ॥

अर्थात्—फलका देनेवाला यदि ईश्वरको मान लिया जाय तो भोक्तापना भी सिद्ध हो जायगा अर्थात् ईश्वर जीवको कर्म भुगताता है इस लिए वह कर्मोंका भोक्ता सिद्ध हो जाता है । परन्तु यदि ईश्वरको फल देनेवाला आदि माना जाय तो साथ ही यह विरोध आता है कि उसका ईश्वरपना ही नहीं ठहर सकता ।

ईश्वर सिद्ध यथा विना, जगत्‌नियम नहीं होय।
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहीं कोय ८१

असिद्धे ईश्वरे नैव युज्यते जगतः स्थितिः।
शुभाऽशुभविपाकानां ततः स्थानं न विद्यते ॥८१॥

अर्थात्—ऐसे फलदाता ईश्वरके सिद्ध न होनेसे जगत्‌का कोई नियम नहीं रह सकता और नियम न रहनेसे शुभाशुभ कर्मोंके भोगनेके लिए कोई स्थान भी नहीं ठहरता तब जीवका भोक्तापना कहाँ रहा ?

सुगुरुका उत्तर।

सुगुरु कहते हैं कि 'जीव अपने किये कर्मोंको भोगता है,' उसका समाधान इस प्रकार है—

भावकर्म निजकल्पना, माटे चेतनरूप।
जीववीर्यनी स्फुरणा, ग्रहण करे जडधूप ॥ ८२ ॥

भावकर्म निजा क्लृप्तिरतश्चेतनरूपता।
जीववीर्यस्य स्फूर्तेस्तु लाति कर्मचयं जडम् ॥ ८२ ॥

अर्थात्—जीव भ्रान्तिके वश हो भाव-कर्मोंको—राग-द्वेषादिको—चैतन्य स्वरूप समझता है। और उसी भ्रमके वशवर्ति रहनेके कारण उसमें एक शक्ति स्फुरित होती है। उसी शक्तिके द्वारा वह जड़—रूप द्रव्य-कर्मकी वर्गणाओंको ग्रहण करता है।

समर्थन—जीव अपने स्वरूपसे अज्ञान रहनेके कारण कर्मोंका कर्त्ता है। वह अज्ञान चैतन्य-रूप है। अर्थात् जीवकी ऐसी कल्पना है कि

अज्ञान चैतन्य-रूप है और उसी कल्पनाके अनुसार कार्य करनेसे जीवके वीर्य-स्वभावकी स्फूर्ति होती है अथवा यों कहिए कि जीवकी शक्तिका उस कल्पनाके अनुरूप परिणमन होता है और इससे फिर वह द्रव्य-कर्म-रूप पुद्गल-वर्गणाओंको ग्रहण करता है ।

झेर, सुधा समजे नहीं, जीव खाय फळ थाय ।
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ॥ ८३ ॥

विषं सुधा न वित्तोऽपि खादकः फलमाप्नुयात् ।
एवमेव शुभाऽशुभकर्मणो जीवभोक्तृता ॥ ८३ ॥

अर्थात्—विष और अमृत यह बात नहीं जानते कि हमें इस जीवको फल देना है, तो भी जो (शरीर-धारी) विष या अमृत पीता है उसे फल मिलता है । इसी प्रकार शुभाशुभ कर्म भी यह बात नहीं जानते कि जीवको हमें यह फल देना है तो भी जो शुभाशुभ कर्मोंको ग्रहण करता है उसे विष और अमृतकी भाँति फल प्राप्त होता है ।

समर्थन—विष और अमृत इस बातको नहीं समझते कि हमें पीने-वालेकी मृत्यु या दीर्घायु होती है; परन्तु उन्हें ग्रहण करनेवालेके लिए स्वभावसे ही उनका वैसा परिणमन होता है । उसी प्रकार जीवमें शुभा-शुभ कर्मोंका परिणमन होता है और वे फल देनेके सन्मुख होते हैं । इस प्रकार जीवमें भोक्तापना स्पष्ट समझमें आता है ।

एक रांक ने एक नृप, ए आदि जे भेद ।
कारणविना न कार्य ते, ए ज शुभाशुभ वेद्य ८४

एको रङ्कः प्रजापोऽन्यः इत्यादिभेददर्शनम् ।
कार्यं नाऽकारणं क्वाऽपि वेद्यमेवं शुभाऽशुभम्॥८४

अर्थात्—देखो, एक रंक है और एक राजा है, इससे भिन्नता, उच्चता तथा कुरूपता, सुन्दरता आदि बहुतसी विचित्रतायें देखी जाती हैं। और जहाँ ऐसा भेद है उसीसे यह सिद्ध है कि समानता नहीं है। यही शुभाशुभ कर्मोंका भोक्तापना है; क्योंकि कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

समर्थन—यदि शुभाशुभ कर्मोंका फल न होता हो तो एक राजा एक रंक आदि भेद न होने चाहिए? क्योंकि जीवत्व तथा मनुष्यत्व सबमें समान है। और इस लिए फिर सबको सुख-दुःख भी समान ही होने चाहिए। जिसके कारण इस प्रकारकी विचित्रता देखी जाती है वह शुभाशुभ कर्मोंसे उत्पन्न हुआ ही भेद है। क्योंकि कारणके विना कार्य-की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार शुभाशुभ कर्म भोगे जाते हैं। जिस भाँति विष विष-रूप परिणमता है और अमृत अमृत-रूप होकर परिणमता है उसी भाँति अशुभ कर्म अशुभ-रूप और शुभ कर्म शुभ-रूप होकर परि-णमते हैं। इस लिए जीव जैसे जैसे अध्यवसायसे—परिणामोंसे—कर्मोंको ग्रहण करता है कर्मोंका भी फिर वैसे वैसे ही विपाक-रूपमें परिणमन होता है; और जिस भाँति विष और अमृतका परिणमन होकर अन्तमें वे निःसत्व हो जाते हैं उसी प्रकार कर्म भी भोगे जानेके बाद निःसत्व हो कर झड़ जाते हैं।

फळदाता ईश्वरतणी, एमां नथी जरूर।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर॥ ८५॥

ईश्वरः फलदस्तत्राऽऽवश्यको न हि कर्मणि ।
परिणमेत् स्वभावात् तद् भोगाद् दूरं विनश्यति८५

अर्थात्—विप और अमृतकी भाँति शुभाशुभ कर्म स्वभावहीसे परिणमते रहते हैं। इसमें फल-प्रदान करनेवाले ईश्वरकी कोई जरूरत नहीं। और जिस प्रकार निःसत्व हो जानेके वाद विप और अमृत फल देनेसे रुक जाते हैं—उनमें फिर फल देनेकी शक्ति नहीं रहती—उसी प्रकार शुभाशुभ कर्म भोगे जानेके वाद निःसत्व होकर नष्ट हो जाते हैं।

समर्थन—जो यह कहा जाय कि कर्मोंका फल ईश्वर प्रदान करता है तो फिर ईश्वरका ईश्वरत्व ही नहीं रह सकता; क्योंकि दूसरोंको फल देने आदिके प्रपंचमें पड़नेसे ईश्वरके लिए फिर देह-धारण आदि वहुतसी वातोंकी संभावना स्वीकार करनी पड़ेगी; और ऐसा करनेसे उसकी परम शुद्धता नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार मुक्त जीव निष्क्रिय—पर-भावादिका कर्त्ता—नहीं है; क्योंकि परभावोंके कर्त्ताको संसार धारण करता है इसी प्रकार ईश्वर भी यदि दूसरोंको फल देने आदि रूप क्रिया करे तो उसे भी फिर परभावादिका कर्त्ता मानना पड़ेगा। और इससे यह होगा कि वह मुक्त जीवसे भी नीचा ठहरेगा और उसकी यह स्थिति उसके ईश्वरत्वके ही नाशका कारण हो पड़ेगी।

और सुनो कि जीव और ईश्वरके स्वभावमें भेद माननेसे भी अनेक दोप आते हैं। देखो, दोनोंका यदि चैतन्य स्वभाव मानें तो दोनोंको समान धर्मके कर्त्ता होने चाहिए। यह ठीक नहीं है कि ईश्वर तो सृष्टि आदिकी रचना करे, अथवा कर्मोंके फल-प्रदान-रूप कार्य करे और मुक्त गिना जाय, और जीव एक मात्र शरीरादिकी सृष्टि निर्माण करे

और अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिए ईश्वरका आश्रय ले तथा बद्ध गिना जाय। जीव और ईश्वरमें इस प्रकारकी विषमता कैसे संभव हो सकती है? और जीवकी अपेक्षा ईश्वरकी शक्ति विशेष मानें तो भी विरोध आता है। जो ईश्वरको शुद्ध चैतन्य-स्वरूप माना जाय तो शुद्ध चैतन्य-स्वरूप मुक्त जीवमें और ईश्वरमें भेद न होना चाहिए; और ईश्वरके द्वारा कर्म-फल देने आदि-रूप कार्य भी न होना चाहिए; अथवा मुक्त जीवसे भी ऐसे कार्य होने चाहिए। और यदि ईश्वरको अशुद्ध चैतन्य-स्वरूप माना जाय तो उसकी संसारी जीवोंके जैसी स्थिति ठहरेगी, फिर उसमें सर्वज्ञत्व आदि गुण नहीं हो सकते। कदाचित् यह कहो कि हम उसे शरीर-धारी सर्वज्ञकी भाँति 'शरीरधारी सर्वज्ञ ईश्वर' मान लेंगे, तब भी तुम्हें यह बतलाना पड़ेगा कि सर्व-कर्मफल-दातृत्व-रूप विशेष स्वभाव ईश्वरमें किस गुणके कारण मानना चाहिए? और शरीर तो नष्ट हो जाता है तब कहना पड़ेगा कि ईश्वरका भी शरीर नष्ट होता है। और यदि उसे मुक्त स्वीकार करोगे तो उसमें 'कर्म-फल-दातृत्व' नहीं बन सकता। इत्यादि नाना प्रकारके दोष ईश्वरको कर्म-फलका दाता माननेसे आते हैं और ईश्वरको इसी तरहका माननेसे उसका ईश्वरत्व ही नष्ट करनेके जैसा प्रसंग आ उपस्थित होता है।

ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव।
गहन वात छे शिष्य आ, कहीं संक्षेपे साव ॥८६

तत्तद्भोग्यविशेषाणां स्थानं द्रव्यस्वभावता।
वार्तेयं गहना शिष्य! संक्षेपे सर्वथोदिता ॥ ८६ ॥

अर्थात्—यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम उत्कृष्ट शुभगति–रूप हैं, उत्कृष्ट अशुभ परिणाम उत्कृष्ट अशुभगति-रूप है; और शुभाशुभ परिणाम मिश्र-गति-रूप हैं; मतलब यह कि जीवके परिणामोंको ही मुख्यतासे गति-रूप कहा गया है; तथापि द्रव्यका यह विशेष स्वभाव है उत्कृष्ट शुभ द्रव्य ऊर्ध्वगमन करता है, उत्कृष्ट अशुभ द्रव्य अधोगमन करता है और शुभाशुभ द्रव्यकी मध्यस्थिति रहती है; और इन्हीं कारणोंसे ही वैसे वैसे भोग्य स्थान होने चाहिए। हे शिष्य, चैतन्यके स्वभाव, संयोग आदि सूक्ष्म स्वरूपका यहाँ बहुत कुछ समावेश हो सकता है और इसी लिए यह बात बड़ी गहन है तो भी यहाँ बहुत संक्षेपके साथ कह दी गई है।

समर्थन—यहाँ पर यह शंका भी करना ठीक नहीं है कि "यदि ईश्वर कर्मोंका फल देनेवाला न हो, अथवा उसे जगत्का कर्त्ता न माना जाय तो कर्म-फल भोगनेके विशेष विशेष स्थान–नरकादि गतियाँ कहाँसे हो सकती हैं; क्योंकि उनके बनानेके लिए तो ईश्वरके कर्तृत्वकी आवश्यकता है।" इसका उत्तर यह है कि मुख्यपने तो उत्कृष्ट परिणाम उत्कृष्ट देव-गति है, उत्कृष्ट अशुभ परिणाम उत्कृष्ट नरक-गति है और शुभाशुभ परिणाम मनुष्य-तिर्यंच आदि गति है । तथा स्थान-विशेष जो उर्ध्वलोक-स्थित देव-गति, अधोलोक-स्थित नरक-गति आदि हैं वे इन्हीं परिणामोंके भेद हैं तथा जीव और धर्म-द्रव्यके परिणाम विशेष हैं। मतलब यह कि वे वे गतियाँ जीवके कर्म-विशेष परिणाम जान पड़ती हैं।

इस लोकका परिणमन जीव और पुद्गलकी अचिन्त्य सामर्थ्यके संयोगसे होता है। इस पर विचार करनेके लिए बहुत ही विस्तारके साथ

इसका वर्णन किया जाना चाहिए । कारण यह बड़ा ही गहन विषय है । परन्तु यहाँ तो प्रधानतासे इतना ही ध्यान आकर्षित करनेका था कि आत्मा कर्मोंका भोक्ता है, और इसी लिए यहाँ पर यह विषय अत्यन्त ही संक्षेपमें कहा गया ।

शिष्यकी शंका ।

शिष्य कहता है कि 'जीवकी कर्मोंसे मुक्ति नहीं हो सकती' । वह इस प्रकार—

कर्त्ता, भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहीं मोक्ष ।
वीत्यो काळ अनंत पण, वर्त्तमान छे दोष ॥ ८७ ॥

कर्ता भोक्ताऽस्तु जीवोऽपि तस्य मोक्षो न विद्यते ।
व्यतीतोऽनन्तकः कालस्तथाऽप्यात्मा तु दोषभाक् ८७

अर्थात्—जीवको कर्मोंका कर्त्ता और भोक्ता होने पर भी उसकी कर्मोंसे मुक्ति कभी नहीं हो सकती; क्योंकि हजारों-लाखों वर्ष वीत चुके तब भी कर्मोंका कर्तृत्व-रूपी दोष उसमें विद्यमान है ।

शुभ करे फळ भोगवे, देवादि गतिमांय ।
अशुभ करे नरकादि फळ, कर्मरहित न क्यांय ८८

शुभकर्मकरो जीवो देवादिपदवीं व्रजेत् ।
अशुभकर्मकृज्जीवः श्वभ्रं, न क्वाऽप्यकर्मकः ॥८८॥

अर्थात्—जीव शुभ कर्म करे तो उसका देव-गतिमें वह शुभ फल भोगता है और अशुभ कर्म करे तो उसका नरक-गतिमें अशुभ फल भोगता है । परन्तु जीव कर्म-रहित हो कर किसी स्थानमें नहीं रह सकता ।

सुगुरुका उत्तर ।

सुगुरु कहते हैं कि 'जीवकी कर्मोंसे मुक्ति हो सकती है,' वह इस तरह—

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण ।
तेम निवृत्तिसफळता, माटे मोक्ष सुजाण ॥ ८९ ॥

यथा शुभाशुभं कर्म जीवव्यापारतः फलि ।
फलवन्निर्वाणमप्यस्य तदव्यापारतस्तथा ॥ ८९ ॥

अर्थात्—जिस प्रकार जीवको शुभाशुभ कर्मोंके करनेके कारण तुमने कर्मोंका कर्त्ता और भोक्ता जाना उसी प्रकार यह भी समझो कि कर्मोंके न करनेसे अथवा किये कर्मोंके निवृत्तिका उपाय करनेसे उन कर्मोंकी निवृत्ति भी हो सकती है । इस लिए कहना चाहिए कि यह निवृत्ति भी सफल है अर्थात् जिस प्रकार शुभाशुभ कर्म निष्फल नहीं जाते उसी प्रकार निवृत्ति भी निष्फल नहीं जा सकती । और हे विचारशील 'आत्मन्, तू यह समझ कि वह निवृत्ति ही मोक्ष है ।

वित्यो काळ अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव।
तेह शुभाशुभ छेदतां, उपजे मोक्षस्वभाव ॥९०॥

सदसत्कर्मणो भावादनन्तः समयो गतः।
संपद्येत तदुच्छेदे जीवे मुक्तिस्वभावता ॥ ९० ॥

अर्थात्—अब तक जो जीवको कर्म-सहित रहते हुए अनन्त काल बीता वह शुभाशुभ कर्मोंके प्रति उसकी आसक्तिके कारण बीता। परन्तु यदि जीव कर्मोंसे उदासीन हो जाय तो वे भी नष्ट हो सकते हैं और इनके नष्ट होनेसे ही मोक्ष-स्वभाव प्रकट हो सकता है।

देहादि संयोगनो, आत्यंतिक वियोग।
सिद्ध मोक्ष शाश्वतपदे, निज अनंत सुखभोग ९१

आत्यन्तिको वियोगो यो देहादियोगजः खलु।
तन्निर्वाणं समाख्यातं तत्राऽनन्तसुखैकता ॥ ९१ ॥

अर्थात्—जो जीवके साथ देहादिकका संयोग है उनका अनुक्रमसे वियोग तो होता रहता है, परन्तु वह संयोग फिर कभी न हो ऐसा वियोग किया जाय तो सिद्ध-स्वरूप मोक्षस्व-भाव प्रकट हो सकता है और फिर उसमें अनन्त आत्म-सुख भोगनेको मिलता है।

शिष्यकी शंका।

शिष्य कहता है कि 'मोक्षका उपाय नहीं है'—

होय कदापि मोक्षपद, नही अविरोध उपाय।
कर्मो काळ अनंतनां, शाथी छेद्यां जाय ॥ ९२ ॥

मोक्षस्थानं कदापि स्यान्नाऽविरोध्युपायि तत् ।
अनन्तकालजः कर्मचयच्छेद्यः कथं भवेत् ? ॥९२॥

अर्थात्—मोक्ष कदाचित् हो भी तो ऐसा कोई अविरोधी तथा यथार्थ उसकी प्राप्तिका उपाय नहीं है जिस पर विश्वास किया जा सके। क्योंकि अनन्त कालके कर्मोंको थोड़ेसे काल तक स्थिर रहनेवाला मानव-देह कैसे नाश कर सकता है ?

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक ।
तेमां मत साचो कयो ? बने न एह विवेक ॥ ९३ ॥

वा मतानि सुभिन्नानि नैकोपायप्रदर्शीनि ।
मतं सत्यं तु किं तत्र शक्यैषा न विवेकिता ॥ ९३ ॥

अर्थात्—अथवा थोड़ी देरके लिए मानव-देहकी कम उम्रकी वातको छोड़ भी दिया जाय तो भी जगत्में मत और दर्शन अनेक हैं और वे सभी मोक्षके नाना उपाय वतलाते हैं । अर्थात्—मोक्षके विषयमें कोई कुछ कहता है और कोई कुछ कहता है तव उनमें सच्चा मत कौनसा है, यह निश्चय करना कठिन है ।

कइ जातिमां मोक्ष छे, कया वेषमां मोक्ष ।
एनो निश्चय ना बने, घणां भेद ए दोष ॥ ९४ ॥

कस्यां जातौ भवेन्मोक्षो वेषे कस्मिंश्च निर्वृतिः ? ।
निश्चेतुमेतन्नो शक्यं वहुभेदो हि दूषणम् ॥ ९४ ॥

अर्थात्—और न इस वातका ही निश्चय हो सकता है कि ब्राह्मण आदि किस जातिसे और किस वेपसे मोक्ष होता है । कारण ये भेद भी

बहुत हैं । तब इस दोषके कारण भी मोक्षके उपायका प्राप्त होना संभव नहीं दिखाई पड़ता ।

तेथी एम जणाय छे, मळे न मोक्ष-उपाय ।
जीवादि जाण्या तणो, शो उपकारज थाय ॥९५॥

तत एवं हि संसिद्धं मोक्षोपायो न विद्यते ।
जीवादिज्ञानसंप्राप्तौ कोपकारो भवेदहा!! ॥ ९५ ॥

अर्थात्—इन सब बाधाओंके आनेसे यह जान पड़ता है कि मोक्ष का उपाय प्राप्त नहीं हो सकता । तब फिर जीवादिका स्वरूप समझनेसे क्या उपकार हो सकता है? अर्थात्—जिस पदकी प्राप्तिके लिए इनका स्वरूप समझना आवश्यक प्रतीति होता है उसकी प्राप्तिका उपाय ही अशक्य है ।

पांचे उत्तरथी थयुं, समाधान सर्वांग ।
समजुं मोक्ष-उपाय तो, उदय उदय सद्भाग्य ॥९६

प्रश्नपञ्चोत्तरे लब्धे समाधिः सकलोऽजनि ।
यदि तत् साधनं विद्यां शिवं श्रेयो भवेच्छिवम् ९६

अर्थात्—शिष्य कहता है कि आपने जो ऊपर मेरी पाँच शंकाओंका समाधान किया उससे पूर्णपने मुझे सन्तोष हुआ । परन्तु उसी प्रकार जो मोक्षका उपाय भी मेरी समझमें आ जाय तो फिर मेरे सौभाग्यका उदय–पूर्ण उदय–हो जाय । यहाँ पर दो वार 'उदय' शब्दके कहनेसे यह आशय जान पड़ता है कि ऊपर पाँच प्रश्नोंका उत्तर सुनकर शिष्यकी जिज्ञासा-बुद्धि मोक्षका उपाय जाननेके लिए अत्यन्त तीव्र हो उठी है ।

सुगुरुका उत्तर ।

सुगुरु कहते हैं—'मोक्षका उपाय है' । समाधान सुनो ।

पांचे उत्तरनी थई, आत्मा विषे प्रतीत ।
थाशे मोक्षोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत ॥ ९७ ॥

पञ्चोत्तरेण संजाता प्रतीतिस्तव ह्यात्मनि ।
मोक्षोपायस्तथा तात ! एष्यति सहजं मनः ॥ ९७ ॥

अर्थात्—जब पाँच प्रश्नोंके उत्तरसे तुम्हारे आत्मामें सन्तोष हो गया तब मोक्षका उपाय सुन कर भी इसी तरह सहज ही तुम्हें सन्तोष हो जायगा । यहाँ 'हो जायगा' और 'सहज' ये जो दो शब्द कहे गये हैं उनसे सुगुरुका यह मतलब है कि जिसके पाँच प्रश्न हल हो गये उसके मोक्षके उपाय विषयक छठे प्रश्नका हल हो जाना भी कोई कठिन बात नहीं है अथवा इस लिए इन शब्दोंको समझना चाहिए कि शिष्यकी विशेष जिज्ञासाके कारण मोक्षका उपाय उसे अवश्य लाभ होगा । गुरु महाराजको ऐसा ही भान हुआ है ।

कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास ।
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञानप्रकाश ॥ ९८ ॥

अज्ञानं कर्मभावोऽस्ति मोक्षभावो निजस्थितिः ।
ज्वलिते ज्ञानदीपे तु नश्येदज्ञानतातमः ॥ ९८ ॥

अर्थात्—कर्म-भाव जीवकी अज्ञानता है और मोक्ष-भाव जीवकी अपने स्वरूपमें स्थिति होना है। अज्ञानका स्वभाव अंधकारके जैसा है। जिस-प्रकार प्रकाश होने पर बहुत कालका भी अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान-प्रकाशसे अज्ञान नष्ट हो जाता है।

जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ।
ते कारण छेदकदशा, मोक्षपंथ भवअंत ॥ ९९ ॥

यो यो बन्धस्य हेतुः स्याद् बन्धमार्गो भवेत् स सः।
बन्धोच्छेदस्थितिर्या तु मोक्षमार्गो भवान्तकः॥९९॥

अर्थात्—जो जो कर्म-बन्धके कारण हैं वे वे कर्म-बन्धके मार्ग हैं और इन कारणोंको जो अवस्था नष्ट कर सके वही मोक्ष-मार्ग है—संसारका अन्त है।

राग, द्वेष, अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥ १०० ॥

रागो द्वेषस्तथाऽज्ञानं कर्मणां ग्रन्थिरग्रगा।
यस्मात् तकन्निवृत्तिः स्यान्मोक्षमार्गः स एव भोः!

अर्थात्—राग द्वेष और अज्ञानकी एकता ही कर्मकी मुख्य गाँठ है—इनके बिना कर्मोंका बंध नहीं हो सकता। इन कर्मोंकी जिसके द्वारा निवृत्ति हो सके वही मोक्षका मार्ग है।

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभासरहीत।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥ १०१ ॥

संश्चेतनामयो जीवः सर्वाभासविवर्जितः ।
प्राप्यते स यतः शुद्धो मोक्षमार्गः स एव भोः ! ॥१०१॥

अर्थात्—शुद्धात्मा सत्–'अविनाशी'—है, 'चैतन्यमय'–सब पदार्थोंके प्रकाशित करनेवाले स्वभाव-रूप–है, और 'केवल'–सब विभाव और देहादिकके संयोगसे रहित–है । ऐसे शुद्धात्माकी प्राप्तिके लिए प्रवृत्त होना 'मोक्ष-मार्ग' है ।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ ।
तेमां मुख्ये मोहिनिय, हणाय ते कहुं पाठ ॥ १०२ ॥

अनन्तभेदकं कर्म चाष्टौ मुख्यानि तेष्वपि ।
तत्राऽपि मोहना मुख्या वक्ष्ये तद्धनने विधिम् ॥१०२॥

अर्थात्—वैसे तो कर्म अनन्त प्रकारके हैं; परन्तु मुख्यतासे उनमें आठ प्रकारके हैं । उनमें भी मुख्य मोहनीय-कर्म है । उसका नाश करनेका उपाय मैं नीचे बतलाता हूँ ।

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन, चारित्र नाम ।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥ १०३ ॥

मोहनं द्विविधं तत्र दृष्टि-चारित्रभेदतः ।
बोधो हि दर्शनं हन्याच्चारित्रं रागहीनता ॥ १०३ ॥

अर्थात्—उस मोहनीय-कर्मके दो भेद हैं । एक 'दर्शनमोहनीय' और दूसरा 'चारित्रमोहनीय' । दर्शनमोहनीय वह है जो परमार्थमें अपरमार्थ-रूप बुद्धिको और अपरमार्थमें परमार्थ-रूप बुद्धिको करता है; और

चारित्रमोहनीय उसे कहते हैं जो परमार्थको परमार्थ-रूप जान कर आत्म-स्वभावमें स्थिरता की जाती है उस स्थिरताके रोकनेवाली, पूर्वसंस्कार-रूप कषायें तथा नो-कषायें हैं। आत्म-ज्ञान दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करती है। ये दोनों उनके नाशके निश्चित उपाय हैं। कारण मिथ्याज्ञान-रूप दर्शनमोहनीयका शत्रु सम्यग्ज्ञान है और रागादिक परिणाम-रूप चारित्रमोहनीयका शत्रु वीतराग-भाव है। मतलब यह कि प्रकाशसे जिस प्रकार अन्धकार नष्ट हो जाता है—वह उसके नाशका निश्चित उपाय है—उसी प्रकार दर्शनमोहनीय और चारित्रमोह-नीय-रूपी अन्धकारके नाश करनेके लिए सम्यग्ज्ञान और वीतरागता प्रकाशके जैसे हैं। इसी लिए इन्हें दोनों मोहनीय कर्मोंके नाशके निश्चित उपाय कहा है।

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो संदेह॥ १०४॥

क्रोधादियोगतः कर्मवन्धः शान्त्यादिघातकः।
अत्रानुभूतिः सर्वेषां तत्र का संशयालुता ?॥ १०४॥

अर्थात्—क्रोधादि-रूप भावोंके होनेसे कर्म-बन्ध होता है और क्षमादि-रूप भावोंसे क्रोधादिका नाश होता है। अर्थात् क्षमासे क्रोध, सरलतासे माया और सन्तोषसे लोभ रोका जा सकता है। इसी प्रकार रति, अरति आदि दोष अपने अपने प्रतिपक्षी गुणोंसे रोके जा सकते हैं। इसे ही कर्म-बन्ध-निरोध कहते हैं; और यही निरोध कर्मोंकी निवृत्ति है। इस बातक सबको प्रत्यक्ष अनुभव है अथवा चाहें तो सब प्रत्यक्ष अनुभव कर भी सकते

हैं कि ये क्रोधादिक रोकनेसे रोके जा सकते हैं; और कर्म-बन्धके रोकनेका यत्न करना कर्म-रहित अवस्थाका मार्ग है । यह मार्ग परलोकमें ही नहीं किन्तु यहीं अनुभवमें आता है तव फिर इसमें सन्देह क्यों करना चाहिए ?

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प ।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥ १०५ ॥

मतदृष्ठ्याग्रहं त्यक्त्वा विकल्पाचरणं तथा ।
आराध्येतोक्तमार्गो यैः तेषां हि जननाल्पता ॥ १०५ ॥

अर्थात्—यह केवल आग्रह मात्र है कि मुझे इस मतमें इसी लिए लगा रहना चाहिए कि वह मेरा मत है तथा इस दर्शनको इस लिए हर प्रकार सिद्ध करनेका यत्न करना चाहिए कि वह मेरा दर्शन है । इससे कुछ लाभ नहीं । किन्तु जो इस प्रकारका आग्रह अथवा विकल्प छोड़ कर ऊपर जिस मार्गका स्वरूप कहा गया है उसका साधन करेंगे समझना चाहिए कि उन्हींके जन्म थोड़े रहे हैं । यहाँ जन्म शब्दका प्रयोग बहु वचनमें किया गया है, वह सिर्फ इस बातके दिखानेके लिए है कि कदाचित् उस मार्गके साधन अधूरे रह गये हों अथवा जघन्य या मध्यम परिणामोंसे उसकी आराधना हुई हो तो सब कर्मोंका क्षय न होनेके कारण आराधकके लिए दूसरा जन्म ग्रहण करना संभव है । पर वे जन्म अधिक नहीं बहुत ही थोड़े हैं। जिन भगवानने कहा है कि सम्यक्त्व हो जाने पर यदि वह फिर न छूटे तो उस जीवको ज्यादासे ज्यादा पन्द्रह भव धारण करना पड़ते हैं । और जो उत्कृष्ट परिणामोंसे उस मार्गकी आराधना करता है वह तो उसी भवसे मोक्ष जाता है । इस बातका यहाँ कुछ विरोध नहीं है ।

षट्पदना षट् प्रश्न तें, पूछ्या करी विचार।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥ १०६ ॥

पदषट्कस्य षट् प्रश्नाः पृष्टाः संचिन्त्य रे ! त्वया।
तत्पदानां समूहत्वे मुक्तिवासः सुनिश्चितम् ॥ १०६ ॥

अर्थात्—हे शिष्य, तूने जो विचार कर छः पदोंके सम्बन्धमें छः प्रश्न किये हैं, तू निश्चय समझ कि उनकी पूर्णतामें ही मोक्ष-मार्ग है। इनमेंसे एक भी पदके उत्थापनका एकान्त या अविचारसे यत्न करने पर मोक्ष-मार्ग सिद्ध नहीं हो सकता।

जाति-वेषनो भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जातेर्वेषस्य नो भेदो यदि स्यादुक्तमार्गता।
तां तु यः साधयेत् सद्यो न काचित् तत्र भिन्नता १०७

अर्थात्—जो मोक्ष-मार्ग बतलाया गया है वह हो तो चाहे जिस जाति या वेषसे प्राप्त किया जा सकता है। उसमें कुछ भी भेद नहीं है। जो उसका साधन करेगा उसे मोक्ष प्राप्त होगा ही। इसी प्रकार उस मोक्षमें भी किसी प्रकारकी ऊँच-नीचताका भेद नहीं है अथवा ये जो वचन कहे हैं उनमें कोई प्रकारका भेद—फेर-फार—नहीं है।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्षअभिलाष।
भवे खेद अंतर दया, ते कहिये जिज्ञास ॥ १०८ ॥

कषायस्योपशान्तत्वं मोक्षे रुचिर्हि केवलम् ।
भवे खेदो दया चित्ते सा जिज्ञासा समुच्यते ॥ १०८ ॥

अर्थात्—उस जीवको मोक्ष-मार्गका जिज्ञासु कहना चाहिए जिसकी कि कषायें मन्द पड़ गई हैं, जिसे मोक्ष-प्राप्तिके सिवा किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है, जो संसारके विषय-भोगोंसे बड़ा उदासीन है तथा इसी प्रकार संसारके प्राणियों पर जिसे अन्तरंगसे दया है अर्थात् ऐसे मनुष्यको मोक्ष प्राप्त करनेका पात्र कहना चाहिए ।

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध ।
तो पामे समकितने, वर्त्ते अंतरशोध ॥ १०९ ॥

सद्गुरोर्बोधमाप्नुयात् स जिज्ञासुर्नरो यदि ।
तदा सम्यक्त्वलाभः स्यादात्मशोधनता अपि ॥ १०९ ॥

अर्थात्—इस जिज्ञासु प्राणीको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह सम्यक्त्व प्राप्त कर आत्मान्वेषणके यत्न करनेमें प्रवृत्त हो सकता है ।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष ।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

मतदृष्ट्याग्रहैर्हीना यद्वृत्तिर्गुरुपादयोः ।
स संलभेत सम्यक्त्वं यत्र भेदो न पक्षता ॥ ११० ॥

अर्थात्—अपने मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुके उपदेशानुसार चलनेका यत्न करता है उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है । उस सम्यक्त्वमें किसी प्रकारका भेद या पक्षपात नहीं है ।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकित ॥ १११ ॥

अनुभूतिः स्वभावस्य तल्लक्ष्यं तत्र प्रत्ययः।
निजतां संवहेद् वृत्तिः सत्यं सम्यक्त्वमुच्यते ॥ १११ ॥

अर्थात्—जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव, उसके प्रति हृदयका आकर्षण तथा उस पर विश्वास है और प्रवृत्ति भी उसी ओर लग रही है वहीं वास्तवमें सम्यक्त्व होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास ॥ ११२ ॥

भूत्वा वर्द्धिष्णु सम्यक्त्वं मिथ्याभासं प्रटालयेत्।
चारित्रस्योदयस्तत्र वीतरागपदस्थितिः ॥ ११२ ॥

अर्थात्—वह सम्यक्त्व अपनी बढ़ती हुई उज्ज्वलतासे, आत्मामें जो हास्य, शोकादि कुछ दोष मिथ्या भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधि-रूप चारित्रका उदय होता है जिससे कि सब राग-द्वेषके क्षय-रूप वीतराग पदमें आत्माकी स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥ ११३ ॥

केवलं स्वस्वभावस्य स्थिरा यत्र भवेन्मतिः।
सोच्यते केवलज्ञानं देहे सत्यपि निर्वृतिः ॥ ११३ ॥

अर्थात्—सब प्रकारके आभास-रहित आत्माके ज्ञान-गुणकी अखण्डता कभी खंडित न हो, मन्द न हो तथा नष्ट न हो उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानको प्राप्त होने पर शरीर रहते हुए भी उत्कृष्ट जीवन-मुक्त-रूप दशाका अनुभव किया जाता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां समाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥११४॥

स्वप्नोऽपि कोटिवर्षस्य निद्रोच्छेदे समाप्यते।
विभावोऽनादिजो दूरे नश्येद् ज्ञाने तथा सति॥११४॥

अर्थात्—जिस प्रकार जाग्रत होने पर करोड़ों वर्षोंका भी स्वप्न उसी क्षण अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार आत्म-ज्ञान हो जाने पर सब विभाव-भाव दूर हो जाते हैं।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, ए ज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥

देहाध्यासो यदि नश्येत् त्वं कर्ता न हि कर्मणाम्।
न हि भोक्ता च तेषां त्वं धर्मस्यैतद् गूढं मतम्॥११५॥

अर्थात्—हे शिष्य, धर्मका मर्म यह है कि जो शरीरमें आत्म-बुद्धि मानी जाती है और जिसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सब वस्तुओंमें मोह भाव हो रहा है वह आत्म-बुद्धि तो आत्मामें ही मान जानी चाहिए। इससे, देहमें जो आत्मत्व-बुद्धि और आत्मामें देहत्व-बुद्धि हो रही है वह छूट जाय तो तू फिर न कर्मोंका कर्त्ता रहे और न भोक्ता;—

ए ज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥ ११६॥

मोक्ष एव ततो धर्मान्मोक्षात्मा च त्वमेव भोः!।
अनन्तदर्शनं त्वं च अव्याबाधरूपस्त्वकम्॥ ११६॥

अर्थात्—और इसी धर्मसे मोक्ष होता है; और तू स्वयं ही मोक्ष स्वरूप है। मतलब यह कि शुद्ध आत्म-पद ही मोक्ष है और वह आत्मा—तू—अनंत ज्ञान-दर्शन तथा सुख-स्वरूप है।

शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
बीजुं कहिये केटलुं? कर विचार तो पाम॥ ११७॥

शुद्धो बुद्धश्चिदात्मा च स्वयंज्योतिः सुखालयम्।
विचारय ततो विद्धि स्वं बहु तु किमुच्यते?॥ ११७॥

अर्थात्—तू शरीरादिक सब वस्तुओंसे भिन्न है। आत्म-द्रव्य किसीमें नहीं मिलता और न आत्मामें ही कोई मिलता है। परमार्थ-दृष्टिसे द्रव्य द्रव्यसे सदा भिन्न रहता है। इसी लिए तू शुद्ध है, ज्ञान-स्वरूप है, चैतन्य प्रदेशात्मक है, स्वयं-ज्योति है अर्थात् तुझे कोई प्रकाशित नहीं करता—तू स्वभावसे ही प्रकाश-स्वरूप है; और अव्याबाध सुखका धाम है। इससे अधिक और क्या कहा जाय; अथवा और कहना ही क्या बाकी रह जाता है। थोड़ेमें यह कहा जाता है कि जो तू विचार करेगा तो इस पदको अवश्य प्राप्त होगा।

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र समाय ।
धरी मौनता एम कही, सहज समाधिमांय ॥ ११८ ॥

सर्वेषां ज्ञानिनामत्र समाप्तिमेति निश्चयः ।
उक्त्वैवं गुरुणा मौनं समाधौ सहजे धृतम् ॥ ११८ ॥

अर्थात्—सब ज्ञानी-महात्माओंका निश्चय यहीं आकर स्थिर होता है। इस प्रकार उपदेश देकर सद्गुरुने मौन धारण कर लिया—वचन-योगकी प्रवृत्तिका त्याग कर वे सहज समाधिमें स्थिर हो गये।

शिष्यको ज्ञान-लाभ ।

सद्गुरुना उपदेशथी, आव्युं अपूर्व भान ।
निजपद निजमांही लह्युं, दूर थयुं अज्ञान ॥ ११९ ॥

सद्गुरोरुपदेशात् त्वाऽऽगतं भानमपूर्वकम् ।
निजे निजपदं लब्धमज्ञानं लयतां गतम् ॥ ११९ ॥

अर्थात्—सद्गुरुके उपदेशसे शिष्यको वह अपूर्व भान हुआ जो पहले कभी न हुआ था। और अपना यथार्थ स्वरूप अपने ही आत्मामें प्रतिभासित होकर उसका देहादिमें आत्म-बुद्धि-रूप सब अज्ञान भाव दूर हो गया।

भास्युं निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप ।
अजर, अमर, अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप ॥१२०॥

तद् भासितं निजं रूपं शुद्धं चैतन्यलक्षणम् ।
अजरं चामरं स्थास्नु देहातीतं सुनिर्मलम् ॥ १२० ॥

अर्थात्—अपना स्वरूप उसे शुद्ध चैतन्यमय, अजर, अमर, अविनाशी तथा शरीरादिसे स्पष्ट भिन्न भासमान हुआ ।

कर्त्ता, भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्त्ते ज्यांय ।
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्त्ता त्यांय ॥ १२१ ॥

यदा विभावभावः स्याद् भोक्ता कर्ता च कर्मणः ।
यदाऽविभावभावः स्याद् भोक्ता कर्ता न कर्मणः १२१

अर्थात्—जहाँ विभाव-भाव–मिथ्यात्व–है वहीं निश्चय-नयसे कर्मोंका कर्त्तापना और भोक्तापना है; और जहाँ विभाव-भाव दूर हो गया है वहाँ न कर्त्तापना है और न भोक्तापना अर्थात् आत्म-स्वभावमें प्रवृत्ति हो जानेसे आत्मा अकर्त्ता हो गया ।

अथवा निजपरिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप ।
कर्त्ता भोक्ता तेहनो, निर्विकल्पस्वरूप ॥ १२२ ॥

स्वाभाविक्यस्ति वा वृत्तिः शुद्धा या चेतनामयी ।
तस्याः कर्ताऽस्ति भोक्ताऽस्ति निर्विकल्पस्वरूपभाक् १२२

अर्थात्—अथवा शुद्ध चैतन्य स्वरूप जो आत्म-परिणाम हैं उनका निर्विकल्प-रूपसे कर्त्ता और भोक्ता हुआ ।

मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ ।
समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रंथ ॥ १२३ ॥

उक्तो मोक्षो निजा शुद्धिः स मार्गो लभ्यते यतः ।
संक्षेपेणोदितः शिष्य ! नैर्ग्रन्थः सकलः पथः ॥ १२३ ॥

अर्थात्—आत्माका शुद्ध पद मोक्ष है, वह जिसके द्वारा प्राप्त किया जा सके उसे मोक्ष-मार्ग समझना चाहिए । श्रीसद्गुरुने कृपा करके निर्ग्रन्थपनेका सब मार्ग अच्छी तरह समझा दिया ।

अहो! अहो! श्रीसद्गुरु, करुणासिंधु अपार ।
आ पामर पर प्रभु कर्यो, अहो! अहो! उपकार १२४

कृपापानीयकूपार ! गुरुदेव ! अहो ! अहो ! ।
अयमुपकृतो दीनश्चोपकारस्त्वहो ! अहो ! ॥ १२४ ॥

अर्थात्—हे करुणाके अपार समुद्र, हे आत्म-लक्ष्मी-विराजमान प्रभो, हे सुगुरो, अहा, आपने इस क्षुद्र प्राणी पर विसमय उत्पन्न करनेवाला उपकार किया है ।

शुं प्रभुचरण कने धरूं? आत्माथी सौ हीन ।
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन ॥ १२५ ॥

प्रभोः पादे धरेयं किमात्मतो हीनकं समम् ।
अर्पितः प्रभुणा सोऽस्ति भवेयं तद्वशंवदः ॥ १२५ ॥

अर्थात्—जिन सुगुरुने मेरा इतना उपकार किया उनके चरणोंकी भेंट मैं क्या करूँ? यद्यपि सुगुरु प्रभु तो निष्काम हैं, और मात्र नि-

ष्काम करुणासे उपदेश करते हैं; परन्तु अपने शिष्य धर्मका स्मरण कर मैं कहता हूँ कि संसारमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब तो आत्माकी अपेक्षा कुछ मूल्यवान नहीं है तब जिनने मुझे आत्मा प्रदान किया उनके सामने मैं उसे छोड़ कर और क्या अर्पण करूँ? इस कारण उपचारसे मात्र इतना कर सकता हूँ कि मैं सर्वथा उन्हीं एक सुगुरुके शरण हूँ।

आ देहादि आजथी, वर्त्तो प्रभुआधीन।
दास, दास, हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दीन॥ १२६॥

अद्यतस्तच्छरीरादि जायतां प्रभुचेटकम्।
दासो दासोऽस्मि दासोऽस्मि तत्प्रभोर्दीनशेखरः॥१२६

अर्थात्—ये शरीर आदि जो मेरे गिने जाते हैं आजसे इन सबको मैं प्रभुके अधीन करता हूँ। मैं उन प्रभुका अब दास हूँ–अत्यन्त दास हूँ–बड़ा ही दीन दास हूँ।

षड् स्थानक समजावीने, भिन्न बताव्यो आप।
म्यानथकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप॥ १२७॥

स्थानषट्कं विसंज्ञाप्य भिन्नं दर्शितवान् भवान्।
असिकोशमिवाऽऽत्मानं चामितोऽयमनुग्रहः॥ १२७॥

अर्थात्—हे देव, आपने छहों पदोंका स्वरूप समझा कर म्यानसे तल-वारको जुदी करनेकी भाँति आत्माको शरीरादिकसे स्पष्ट जुदा कर दिया। प्रभो, आपने मुझ पर वह उपकार किया है कि जिसकी कोई इयत्ता–सीमा–नहीं।

उपसंहार ।
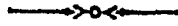
दर्शन षटे शमाय छे, आ षट् स्थानक मांहि ।
विचारतां विस्तारथी, संशय रहे न कांइ ॥ १२८ ॥

स्थानषट्के समाप्यन्ते दर्शनानि षडेव भोः ! ।
न तत्र संशयः कोऽपि यद्यालोच्येत विस्तरम् ॥ १२८ ॥

अर्थात्—इन छहों पदोंमें छहों दर्शन समाजाते हैं । अच्छी तरह विचार करने पर फिर किसी प्रकारका सन्देह नहीं रह जाता ।

आत्मभ्रांतिसम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजाण ।
गुरुआज्ञासम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान ॥ १२९

आत्मभ्रान्तिसमो रोगो नास्ति भिषग् गुरूपमः ।
गुरोराज्ञासमं पथ्यं ध्यानतुल्यं न चौषधम् ॥ १२९ ॥

अर्थात्—आत्माके स्वरूपका भान न होनेके जैसा तो कोई रोग नहीं है, सद्गुरुके जैसे सच्चे और कुशल कोई वैद्य नहीं है, सद्गुरुकी आज्ञानुसार चलनेके जैसा कोई पथ्य नहीं है और विचार तथा निदिध्यासन—ध्यान—के जैसी कोई औषधि नहीं है ।

जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ ।
भवस्थिति आदि नाम लइ, छेदो नहीं आत्मार्थ १३०

प्रेप्सवः परमार्थं ये ते कुर्वन्त्वात्मपौरुषम् ।
भवस्थित्यादिहेतोस्तु न च्छिन्दन्तु निजं बलम् ॥१३०॥

अर्थात्—जो तुम परमार्थको चाहते हो तो सच्चा पुरुषार्थ करो; कर्मोंके उदय आदिका आश्रय लेकर आत्म-हितसे मुँह न मोड़ो ।

निश्चयवाणी सांभळी, साधन तजवां नोय ।
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय ॥ १३१ ॥

आकर्ण्य निश्चितां वाणीं त्याज्यं नैव सुसाधनम् ।
रक्षित्वा निश्चये लक्ष्यमाचर्यः साधनाचयः ॥ १३१ ॥

अर्थात्—निश्चय-नयका कथन सुन कर,—कि आत्मा अबंध है, असंग है, सिद्ध है,—साधनोंको न छोड़ दो; किन्तु निश्चय-नयका स्वरूप ध्यानमें रख कर साधनों द्वारा उस निश्चय-स्वरूपके प्राप्त करनेका यत्न करो ।

नय निश्चय एकांतथी, आमां नथी कहेल ।
एकांते व्यवहार नहीं, बन्ने साथ रहेल ॥ १३२ ॥

निश्चयो व्यवहारो वा नात्रैकान्तेन दर्शितः ।
यत्र स्थाने यथायोग्यं तथा तद् युगलं भवेत् ॥ १३२ ॥

अर्थात्—यहाँ न तो एकान्तसे निश्चय-नयका कथन किया गया है और न व्यवहार-नयका; किन्तु दोनों जहाँ जिस प्रकार घट जायँ उसी प्रकार एक साथ रहती हैं ।

गच्छ मतनी जे कल्पना, ते नहीं सद्व्यवहार ।
भान नहीं निजरूपनुं, ते निश्चय नहीं सार ॥ १३३ ॥

सद्व्यवहारहीनाऽस्ति कल्पना मत-गच्छयोः ।
निजभानाद् ऋते तात! निश्चयो न हि सुन्दरः ॥१३३॥

अर्थात्—गच्छ, पंथ, आदि मत-कल्पना सद्व्यवहार नहीं है; किन्तु आत्मार्थी पुरुषोंके लक्षणमें जिस दशाका वर्णन किया गया है और मोक्षोपाय बतलाते हुए जो जिज्ञासुके लक्षण कहे गये हैं वह सद्व्यवहार है। उसका यहाँ बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया है। इसी प्रकार जिसे अपने आत्म-स्वरूपका भान नहीं अर्थात् शरीरादिके अनुभवकी भाँति जिसे-आत्माका अनुभव नहीं हुआ, देहमें जिसकी ममत्त्व-बुद्धि है और जो वैराग्यादि साधनोंको प्राप्त किये बिना ही 'निश्चय' 'निश्चय' चिल्लाया करता है उसका वह निश्चय-नयका गर्व निस्सार है—निष्फल है।

आगळ ज्ञानी थइ गया, वर्त्तमानमां होय ।
थाशे काळ भविष्यमां, मार्गभेद नहीं कोय ॥१३४॥

अभूवन् ज्ञानिनः पूर्वं वर्तन्ते ये च नाऽऽगताः ।
विदां तेषां समेषां वै मार्गभेदो न विद्यते ॥ १३४ ॥

अर्थात्—भूतकालमें जो ज्ञानी जन हो गये हैं, वर्तमानमें हैं तथा भविष्यमें होंगे उनके मार्गमें कोई भेद नहीं है अर्थात् वास्तवमें उन सबका एक ही मार्ग है। और उस मार्गके प्राप्त करने योग्य व्यवहारका परमार्थ साधक-रूपसे देशकालादिके भेदों द्वारा भी वर्णन किया गया हो तो भी उसका फल एक ही उत्पन्न होगा—परमार्थसे उसमें कोई भेद नहीं है।

सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समजे ते थाय ।
सद्गुरुआज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय ॥१३५॥

सिद्धतुल्यान् समान् जीवान् यो जानाति भवेत् स सः।
अर्हत्स्थितिर्गुरोराज्ञा निमित्तं तत्र विद्यते ॥ १३५ ॥

अर्थात्—सव जीवोंमें सिद्धोंके सदृश सत्ता है; परन्तु वह उसीमें प्रकट होती है जो उसे समझता है। उसकी प्राप्तिके दो निमित्त-कारण हैं। एक तो सुगुरुकी आज्ञानुसार चलना; और दूसरे सद्गुरु द्वारा उपदेश की गई जिन-अवस्थाका विचार करना।

उपादाननुं नाम लई, ए जे तजे निमित्त ।
पामे नहीं सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित ॥ १३६ ॥

उपादानच्छलेनैव निमित्तानि त्यजन्ति ये ।
लभन्ते सिद्धभावं नो भ्रान्ताः स्युस्ते उत ध्रुवम् ॥१३६

अर्थात्—शास्त्रोंमें आत्म-साधनके दो कारण कहे गये हैं। एक निमित्त-कारण और दूसरा उपादान-कारण। सद्गुरुकी आज्ञा आदि निमित्त-कारण हैं और आत्माके ज्ञान-दर्शन आदि उपादान-कारण हैं। इस लिए जो केवल उपादानका नाम ले ले कर निमित्त-कारणको छोड़ देंगे वे सिद्धत्वको प्राप्त न होंगे और भ्रममें पड़े रहेंगे। कारण शास्त्रोंमें सच्चे निमित्त-कारणके निषेधार्थ उपादानकी व्याख्या नहीं की गई है। परन्तु इतना ध्यानमें रक्खो कि सच्चे निमित्त-कारणके मिलने पर उपादानको सुषुप्ति अवस्थामें रखनेसे भी कुछ लाभ नहीं। इस लिए सच्चे निमित्तके मिलने पर उसकी सहायतासे उपादानको अभिमुख करना उचित है, पुरुषार्थ-रहित होना ठीक नहीं है। ऋषियोंकी की हुई व्याख्याका यह मथितार्थ है।

मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर छूट्यो न मोह ।
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह ॥ १३७ ॥

वक्ति ज्ञानकथां वक्त्राच्चित्तं मोहतमावृतम् ।
यस्य रङ्कस्य मर्त्यस्य ज्ञानिद्रोही स केवलम् ॥ १३७ ॥

अर्थात्—मुँहसे जो निश्चय-नयका ढोंग करते हैं; परन्तु अन्तरङ्गमें स्वयं मोहको नहीं छोड़ सकते ऐसे क्षुद्र प्राणी अपनेको ज्ञानी कहलानेकी कामनासे सच्चे ज्ञानी पुरुषोंके साथ द्रोह करते हैं ।

दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य ।
होय मुमुक्षुघटविषे, एह सदाय सुजाग्य ॥ १३८ ॥

दया शान्तिः क्षमा साम्यं वैराग्यं त्याग-सत्यते ।
मुमुक्षुहृदये नित्यमेते स्युः प्रकटा गुणाः ॥ १३८ ॥

अर्थात्—मुमुक्षुके हृदयमें दया, शान्ति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग और वैराग्य ये गुण सदा जाग्रत रहते हैं । अर्थात् इन गुणोंके विना मनुष्य मुमुक्षु नहीं हो सकता ।

मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत ।
ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी कहिये भ्रांत ॥ १३९ ॥

यत्राऽस्ति मोहनं क्षीणं वा प्रशान्तं भवेत् तकत् ।
वाच्या ज्ञानिदशा साऽन्या भ्रान्तता स्पष्टमुच्यते १३९

अर्थात्—मोह-भावका जहाँ क्षय हो गया हो अथवा मोहावस्था अत्यन्त मन्द पड़ गई हो उसे ज्ञानावस्था कहते हैं । इसके सिवा जिसने अपनेमें ज्ञान प्राप्त हो जानेकी कल्पना करली है वह केवल भ्रान्ति है ।

सकळ जगत् ते एठवत्, अथवा स्वप्नसमान ।
ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान ॥ १४० ॥

उच्छिष्टान्नायमानं वा स्वप्नवद् वेत्ति यो जगत् ।
एषा ज्ञानिस्थितिर्वाच्या शेषं वाग्जालमामतम् ॥ १४० ॥

अर्थात्—सारे जगत्को जिसने एक झूठी वस्तुके जैसा समझा है अथवा जिसके ज्ञानमें जगत् स्वप्नके जैसा भासमान हो रहा है वही सच्ची ज्ञानावस्था है बाकी केवल वचनोंसे कहा जानेवाला ज्ञान वाग्जाल है ।

स्थानक पांच विचारीने, छट्ठे वर्त्ते जेह ।
पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहीं संदेह ॥ १४१ ॥

स्थानपञ्चकमालोच्य षष्ठके यः प्रवर्तते ।
प्राप्नुयात् पञ्चमं स्थानं नाऽत्र शङ्काकणोऽपि रे ! ॥१४१

अर्थात्—ऊपर कहे गये पाँचों पदोंके स्वरूपका विचार कर जो छठे पदमें अपनी प्रवृत्ति करता है—मोक्षके उपायका साधन करता है–वह पंचम-पद–निर्वाण–लाभ करता है ।

देह छतां जेनी दशा, वर्त्ते देहातीत ।
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वंदन अगणित ॥ १४२ ॥

देहातीता दशा यस्य देहे सत्यपि वर्तते ।
तज्ज्ञानिचरणे मेऽस्तु वन्दनाऽगणिता त्रिधा ॥ १४२ ॥

अर्थात्—पूर्व-कर्मोंके योगसे जिसे शरीर प्राप्त है; किन्तु जिसकी दशा देहादिकी कल्पना-रहित आत्ममय है उस ज्ञानी-महात्मा पुरुषके चरण-कमलोंमें अनन्त वार नमस्कार है ।

श्रीसद्गुरुचरणार्पणमस्तु ।

सं० १९५२ कुँवार विदी १,
गुरुवार, नड़ियाद ।